भगवान महावीर के पच्चीससौवें
निर्वाण महोत्सव के अंतर्गत प्रकाशित
[श्री टोडरमल ग्रन्थमाला का ३१वां पुष्प]

तीर्थंकर महावीर
और उनका
सर्वोदय तीर्थ

लेखक :

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम० ए०, पीएच०डी०

प्रकाशक :

मंत्री, पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

प्रकाशकीय

सचमुच ही हम सब बड़े भाग्यशाली हैं क्योंकि हमें अपने जीवन-काल में तीर्थंकर भगवान महावीर का २५०० वाँ निर्वाण-महोत्सव मनाने का महान सौभाग्य प्राप्त हुआ है। हम सब वर्षों से इसकी तैयारी में व्यस्त हैं। भारतवर्ष का समस्त जैन समाज ही नहीं, भारत-सरकार व राज्य सरकारें भी इस महोत्सव को शासकीय स्तर पर विशाल रूप में मना रही हैं। सम्पूर्ण देश में उत्साह का वातावरण है। विदेशों में भी यथास्थान यथानुरूप उत्सव मनाने की तैयारियाँ चल रही हैं।

यह महोत्सव दीपावली सन् १६७४ ई० से दीपावली १६७५ ई० तक पूरे वर्ष भर तक मनाया जाने वाला है। इस वर्ष को शासकीय तौर पर संयम वर्ष भी घोषित कर दिया गया है।

इस पावन-प्रसंग पर सारे ही देश में अनेक निर्माण कार्य हो रहे हैं, जिसमें भगवान महावीर के जीवन और सिद्धान्तों के विवेचक साहित्य का निर्माण भी बहुत हुआ है, हो रहा है, और होगा।

यद्यपि यह एक शुभ लक्षण है, तथापि उच्चस्तर का प्रामाणिक साहित्य विरल ही है। बहुत कुछ अप्रमाणिक एवं अनर्गल साहित्य भी प्रकाशित हुआ है। इसमें दो कारण मुख्य रहे हैं – भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के सही ज्ञान का अभाव और अति आधुनिकता एवं अस्वाभाविक समन्वय का व्यामोह।

इस मंगलमय अवसर पर पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ने भी भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान के प्रचार और प्रसार की अनेक योजनाओं के साथ ही आज से लगभग दो-ढाई वर्ष पूर्व श्री जिनबिंब पंचकल्याणक महोत्सव, फतेपुर (गुजरात) के शुभ अवसर पर आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के सान्निध्य में यह निश्चय भी किया कि भगवान महावीर के जीवन और सिद्धान्तों पर सांगोपांग प्रामाणिक प्रकाश डालने वाली एक पुस्तक प्रकाशित की जावे।

तदर्थं संस्था के सुयोग्य संयुक्तमंत्री डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल से अनुरोध किया गया और उन्होंने इस कार्य को सहर्ष स्वीकार भी कर लिया। किन्तु संस्था के संचालन, तत्त्व-प्रचार व प्रसार एवं तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २, पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व, 'अपने को पहचानिए' के लेखन-सम्पादन और प्रकाशन की व्यस्तता में यह कार्य फरवरी १९७४ ई० तक आरम्भ न हो सका। मार्च १९७४ ई० के प्रथम सप्ताह में सोनगढ़ में सम्पन्न पंचकल्याणक के अवसर पर उनसे इसके लिये पुनः आग्रह किया गया और उसके बाद उन्होंने तेजी से यह कार्य प्रारम्भ कर दिया।

डॉ० भारिल्ल ने पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट की अनेक गतिविधियों एवं कार्यभार को संभालते हुए भी ६-७ माह के अल्प काल में दिन-रात एक करके, अपने स्वास्थ्य का भी ध्यान न रखते हुये, यह प्रामाणिक एवं अत्यन्त सुन्दर पुस्तक 'तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ' तैयार कर दी है, जिसे प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

अत्यधिक निकट सम्पर्क में होने के कारण भारिल्लजी की अगाध विद्वत्ता व कार्यप्रणाली से मैं भली-भांति परिचित हूँ। वे एक गहन गम्भीर विचारक एवं विश्लेषक, भव-भय से डरने वाले आत्मार्थी, सद्धर्म प्रचार की उत्कट भावना रखने वाले निर्लोभी विद्वान् एवं कुशल प्रशासक हैं। इस पुस्तक के तैयार करने में उन्हें कितना श्रम करना पड़ा है, उससे भी मैं अनभिज्ञ नहीं हूँ। उनका विस्तृत अध्ययन व श्रम पुस्तक में प्रतिफलित हुआ है। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि उनका यह अथक परिश्रम पूर्णतः सफल हुआ है। इसके लिये मैं ट्रस्ट की ओर से उन्हें हार्दिक बधाई देता हूँ।

प्रस्तुत पुस्तक में दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में भगवान महावीर के पूर्व भवों एवं वर्तमान जीवन का तो मार्मिक चित्रण सरल, सरस एवं प्रवाहमयी भाषा में किया ही गया है, साथ में भगवान ऋषभदेव से लेकर पार्श्वनाथ तक की पूर्व-परम्परा एवं पृष्ठभूमि भी संक्षेप में दे दी गई है।

द्वितीय खण्ड में भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित मुक्ति के मार्ग की तार्किक किन्तु रोचक एवं बोधगम्य विवेचना प्रस्तुत की गई है। जहाँ एक ओर अनेकान्त और स्याद्वाद जैसे गूढ़ व गंभीर विषयों पर साधिकार सप्रमाण तर्कसंगत निरूपण हुआ है, वहीं दूसरी ओर देव-शास्त्र-गुरु जैसे भक्ति-प्रधान एवं भेद-विज्ञान जैसे आध्यात्मिक भावमयी विषयों को मीठी मार के साथ-साथ उपयुक्त उदाहरणों के द्वारा गले उतारने का सफल प्रयास किया गया है। सम्पूर्ण पुस्तक में आद्योपान्त मौलिकता विद्यमान होने पर भी सर्वत्र जिनवाणी का अनुगमन है।

महावीर-वाणी के प्रतिपादन का केन्द्र बिन्दु आत्मा कहीं भी ओझल नहीं होने पाया है; चाहे इतिवृत्तात्मक कथा भाग हो, चाहे विवेचनात्मक सिद्धान्त भाग।

दोनों खण्डों के पश्चात् उपसंहार में भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखा गया है, जिसमें उनकी व्यावहारिक उपयोगिता आधुनिक सन्दर्भ में स्पष्ट की गई है।

अन्त में तीन परिशिष्ट दिये गये हैं :–

प्रथम परिशिष्ट में जैन धर्म एवं भगवान महावीर के नाम से जुड़े हुए सर्वाधिक चर्चित विषय 'अहिंसा' पर जिनागम के परिप्रेक्ष्य में सांगोपांग प्रकाश डाला गया है। इसे परिशिष्ट में रखने का कारण – इस पर पाठकों का सर्वाधिक ध्यान आकर्षित करना एवं इसके संबंध में प्रचलित अनेक भ्रान्त धारणाओं पर सयुक्ति एवं सप्रमाण विचार करना रहा है, जो कि पुस्तक के मध्य में अनुपात की दृष्टि से युक्तिसंगत नहीं था।

द्वितीय परिशिष्ट में प्रस्तुत कृति के संदर्भ-ग्रन्थों की सूची है।

तृतीय परिशिष्ट में लेखक द्वारा रचित नवीन भावपूर्ण भगवान महावीर की पूजन दी गई है, जिसमें भाव पक्ष के साथ-साथ काव्यगत सौन्दर्य भी द्रष्टव्य है।

इस तरह इस ग्रन्थ को सर्वांग-सुन्दर बनाने का पूरा-पूरा प्रयास किया गया है। मेरी दृष्टि में यह कृति बहुत अच्छी बन पड़ी है।

मेरी भावना है कि यह पुस्तक प्रत्येक व्यक्ति के हाथ में पहुँचे और वह इसके अध्ययन द्वारा अपने आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करे।

इस पुस्तक की हम प्रथम संस्करण में ही दस हजार प्रतियाँ प्रकाशित कर रहे हैं। कागज की कमी, अनुपलब्धि और भीषण महंगाई के युग में भी हम इतनी अधिक प्रतियाँ इस कारण प्रकाशित कर सके हैं कि हमें इसे प्रेस में देने के पूर्व बिना देखे ही छह हजार प्रतियों के आर्डर प्राप्त हो चुके हैं। यह सब डॉ० भारिल्लजी की लोकप्रिय लौह-लेखनी का ही परिणाम है। इन्दौर विश्वविद्यालय द्वारा पीएच०डी० के लिये स्वीकृत शोध-प्रबन्ध 'पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व' की हमने गत वर्ष ३००० प्रतियाँ प्रकाशित की थीं, जो वर्ष भर में ही समाप्तप्रायः हैं। उनके द्वारा लिखित 'अपने को पहचानिए' छह माह में बारह हजार बिक चुकी हैं तथा अठारह माह पूर्व प्रकाशित लघुपुस्तिका 'तीर्थंकर भगवान महावीर' अब तक पचास हजार प्रकाशित हो चुकी है। इनके गुजराती अनुवाद भी गुजरात दिगम्बर महावीर नि० समिति प्रकाशित कर चुकी है। 'तीर्थंकर भगवान महावीर' का तो असमी भाषा में भी अनुवाद प्रकाशित हो चुका है।

इस सर्वोपयोगी कृति को लागतमात्र मूल्य में जन-जन तक पहुँचाने के लिये कृत-संकल्प पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट की गतिविधियों का यहाँ संक्षिप्त परिचय देना अप्रांसगिक न होगा।

स्मारक भवन का शिलान्यास आध्यात्मिक प्रवक्ता माननीय श्री खेमचन्दभाई जेठालाल सेठ के हाथ से हुआ था एवं उद्घाटन आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजी स्वामी के कर-कमलों से दि० १३ मार्च, १९६७ ई० को हुआ। संस्था का मुख्य उद्देश्य आत्म-कल्याणकारी, परम-शान्ति-प्रदायक वीतराग-विज्ञान तत्त्व का नई पीढ़ी में प्रचार व प्रसार करना है। इसकी पूर्ति के लिए संस्था ने तत्वप्रचार सम्बन्धी अनेक गतिविधियाँ प्रारम्भ कीं, जिन्हें अत्यल्प काल में ही अप्रत्याशित सफलता प्राप्त हुई है। वर्तमान में ट्रस्ट द्वारा निम्नलिखित गतिविधियाँ संचालित हैं :-

पाठ्यपुस्तक निर्माण विभाग

बालकों को सामान्य तत्त्वज्ञान प्राप्ति एवं सदाचारयुक्त नैतिक जीवन बिताने की प्रेरणा देने के उद्देश्य से युगानुकूल उपयुक्त धार्मिक पाठ्यपुस्तकें सरल, सुबोध भाषा में तैयार करने में यह विभाग कार्यरत है। इसके अंतर्गत बालबोध पाठमाला भाग १, २, ३; वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १, २, ३; तथा तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १, २ पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है। बालकों एवं युवकों में धार्मिक शिक्षा एवं जागृति के लिये ये पुस्तकें अत्यन्त उपयोगी व लोकप्रिय सिद्ध हुई है।

इन पुस्तकों की लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि पाँच वर्ष के भीतर इनकी चार लाख से भी अधिक प्रतियाँ बिक चुकी हैं तथा बीस हजार से ऊपर छात्र-छात्रायें इनका प्रतिवर्ष अध्ययन करते हैं एवं परीक्षा में बैठते हैं।

समाज के सर्वमान्य नेता साहू शान्तिप्रसादजी जैन ने इनकी सरलता और रोचक शैली से प्रभावित होकर इनके ५०० सैट अपनी ओर से समाज की सभी शिक्षण-संस्थाओं और उनके अधिकारियों को भिजवाये हैं। साथ ही प्रेरणा का पत्र भी लिखा, जिसमें उक्त पुस्तकों की प्रशंसा करते हुए उन्हें पाठ्यक्रम में शामिल करने एवं छात्रों को परीक्षा में बैठाने का अनुरोध किया।

परीक्षा विभाग

उपर्युक्त पुस्तकों की पढ़ाई आरम्भ होते ही सुनियोजित ढंग से परीक्षा लेने की समुचित व्यवस्था की आवश्यकता प्रतीत हुई। फलस्वरूप 'श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड' की स्थापना हुई। इस परीक्षा बोर्ड से सन् १९६८-६९ में ५७१ छात्र परीक्षा में बैठे, जबकि १९७३-७४ में यह संख्या बढ़कर २०,०३५ हो गई। परीक्षा बोर्ड से विभिन्न प्रान्तों की ३०९ शिक्षण-संस्थायें सम्बन्धित हैं- जिनमें २२० तो परीक्षा बोर्ड द्वारा स्थापित नवीन वीतराग-विज्ञान पाठशालाएँ हैं।

गुजराती भाषी परीक्षार्थियों की सुविधा की दृष्टि से इसकी एक शाखा अहमदाबाद में भी स्थापित की गई है।

शिविर विभाग

१. **प्रशिक्षण शिविर** – श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड का पाठ्यक्रम चालू हो जाने पर और उत्तरपुस्तिकाओं के अवलोकन करने पर अनुभव हुआ कि अध्ययन शैली में पर्याप्त सुधार हुए बिना इन पुस्तकों को तैयार करने का उद्देश्य सफल नहीं हो सकेगा। अतएव धार्मिक अध्यापन की सैद्धान्तिक व प्रायोगिक प्रक्रिया में अध्यापक बन्धुओं को प्रशिक्षित करने हेतु ग्रीष्मावकाश के समय २० दिवसीय प्रशिक्षण शिविर लगाया जाना प्रारम्भ किया गया। तत्सम्बन्धी एक पुस्तक 'वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका' भी प्रकाशित की गई है।

इन प्रशिक्षण शिविरों की लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि सारे भारत से एक ही वर्ष में अनेक आमंत्रण, आग्रह आने लगे। जिससे भी एक वर्ष बाद की बात कहते, कोई नहीं मानता। ब्र० धन्यकुमारजी बेलोकर आदि अनेक गणमान्य महानुभावों के अति आग्रह पर यह विचार किया गया कि दशहरा-दीपावली अवकाश में शीतकालीन प्रशिक्षण शिविर भी चालू किया जाय। परिणामस्वरूप मलकापुर में गत वर्ष प्रशिक्षण शिविर लगा। इस वर्ष भी अनेक स्थानों से अत्यन्त आग्रह थे लेकिन प्रस्तुत कृति के निर्माण में व्यस्त होने से इस वर्ष शिविर नहीं लगा सके, किन्तु भविष्य में नियमित रूप से शीतकालीन व ग्रीष्मकालीन दोनों शिविरों के लगाने की योजना है।

अभी तक ऐसे कुल सात शिविर क्रमशः जयपुर, विदिशा, जयपुर, आगरा, विदिशा, मलकापुर व छिंदवाड़ा में सम्पन्न हो चुके हैं, जिनमें ६४० अध्यापकों ने प्रशिक्षण प्राप्त किया है। आगामी प्रशिक्षण शिविर गुजरात व महाराष्ट्र में लगाये जाने की मांग है।

२. **शिक्षण शिविर** – प्रशिक्षण शिविर की भांति ही बालकों एवं प्रौढ़ों लिए भी यथासमय जगह-जगह शिक्षण शिविर लगाये जाते हैं।

इनमें लोकप्रिय प्रवचनकारों के साथ ही ट्रस्ट के प्रशिक्षण शिविरों में प्रशिक्षित अध्यापक पढ़ाने जाते हैं। परिणामस्वरूप जगह-जगह वीतराग-विज्ञान पाठशालाएँ खुलती हैं। अतः परीक्षा बोर्ड की छात्र संख्या बढ़ने में इनका बहुत बड़ा योगदान है।

इस वर्ष ग्रीष्मकालीन प्रशिक्षिण शिविर के अवसर पर छिंदवाड़ा में ट्रस्ट ने महावीर निर्वाणोत्सव वर्ष के उपलक्ष में एक-एक सप्ताह के शिक्षिण शिविर लगाने की योजना बनाई जो डॉ० भारिल्लजी के नेतृत्व में संचालित होंगे। इस शृंखला में सर्वप्रथम शिविर नागपुर निर्वाणोत्सव समिति के आमंत्रण पर नागपुर में लगा, जिसकी सफलता ने हमारे उत्साह को बहुत बढ़ाया है। दूसरा शिविर बालचन्द नगर (महाराष्ट्र) में १७-११-७४ से २३-११-७४ तक लग रहा है, और भी अनेक शिविरों के आमंत्रण आ चुके हैं। अतः वर्ष भर तक यथासंभव अधिक से अधिक शिविरों के आयोजन की योजना है।

शिक्षा विभाग

इस विभाग की चार शाखायें हैं :-

(१) वीतराग-विज्ञान पाठशाला विभाग
(२) सरस्वती भवन विभाग
(३) वाचनालय विभाग
(४) शोधकार्य विभाग

१. वीतराग विज्ञान पाठशाला विभाग – यह अनुभव किया गया है कि हमारे स्कूलों में, जिन पर समाज का लाखों रुपया खर्च होता है, धार्मिक शिक्षा एक तो चलती ही नहीं, और चलती भी है तो नाममात्र की। अतः एक योजना बनाई गई कि देश में जगह-जगह ऐसी पाठशालाएँ चलाई जावें जिनमें एक घंटा मात्र धर्म की शिक्षा दी जाय। इसके अंतर्गत सारे भारतवर्ष में २२० वीतराग-विज्ञान पाठशालाएँ चल रही हैं। इस प्रकार की पाठशालाओं के लिए, यदि चाहा जावे तो, बीस रुपया माहवार का अनुदान देने की व्यवस्था है। इन पाठशालाओं में परीक्षा बोर्ड से प्रशिक्षित

अध्यापक-अध्यापिकाएँ कार्य करते हैं। इस दिशा में कार्य करने की बहुत गुंजाइश है।

इस विभाग के कार्यक्षेत्र की विशालता को देखकर इसकी एक अखिल भारतीय समिति बनाई गई जिसका नाम रखा गया—'वीतराग-विज्ञान पाठशाला समिति'।

जब इसका काम बहुत विस्तार पाता गया तो फिर क्रमशः इसी के अन्तर्गत विदिशा प्रशिक्षण शिविर के अवसर पर मध्यप्रदेशीय वीतराग-विज्ञान पाठशाला समिति, आगरा प्रशिक्षण शिविर के अवसर पर उत्तरप्रदेशीय वीतराग-विज्ञान पाठशाला समिति, फतेहपुर पंच-कल्याणक के अवसर पर गुजरात वीतराग-विज्ञान पाठशाला समिति एवं मलकापुर शिविर के अवसर पर महाराष्ट्र वीतराग-विज्ञान पाठशाला समिति की स्थापना हो गई।

सभी अपनी-अपनी शक्ति और योग्यतानुसार कार्य कर रही हैं और भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित वीतराग-विज्ञानमय धर्म के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान कर रही हैं।

२. **सरस्वती भवन विभाग**—अध्ययन व स्वाध्याय के लिए सर्व प्रकार का साहित्य उपलब्ध हो सके, इस दिशा में सरस्वती भवन में अब तक १८२३ ग्रन्थों का संग्रह किया जा चुका है।

३. **वाचनालय विभाग**—वाचनालय विभाग में लौकिक एवं पारलौकिक ज्ञान की वृद्धि हेतु धार्मिक, सामाजिक और लौकिक सभी प्रकार की पत्र-पत्रिकाएँ मंगाई जाती हैं। वर्तमान में इनकी संख्या २० है।

४. **शोधकार्य विभाग**—'पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व' नामक शोध-प्रबंध इस विभाग की प्रथम उपलब्धि है। इस विभाग द्वारा आगे और भी शोधकार्य हाथ में लिए जाने की अपेक्षा है।

प्रकाशन विभाग

हमारे प्रकाशन श्री टोडरमल ग्रन्थमाला के नाम से होते हैं। सर्वप्रथम हमें आचार्यकल्प पंडितप्रवर टोडरमलजी की अमरकृति

'मोक्षमार्ग प्रकाशक' के प्रकाशन का महान सौभाग्य प्राप्त हुआ। तदुपरान्त जैन समाज के प्रसिद्ध मूर्धन्य विद्वानों के मध्य जयपुर (खानियाँ) में हुई ऐतिहासिक तत्त्वचर्चा जो कि 'खानियाँ तत्त्वचर्चा' के नाम से प्रसिद्ध है, का प्रकाशन हमारे यहाँ से हुआ। हमारे सभी प्रकाशनों की सूची प्रस्तुत ग्रन्थ के आवरण पृष्ठ पर दी गई है।

महाराष्ट्र व गुजरात की माँग पर हमारी कतिपय पुस्तकों का मराठी व गुजराती भाषा में भी प्रकाशन हुआ है। इस विभाग द्वारा अब तक चार लाख सड़सठ हजार सात सौ की संख्या में छोटे-बड़े ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है।

प्रचार विभाग

डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा श्री दिगम्बर जैन बड़ा मंदिर तेरापंथियान, जयपुर में प्रातः और श्री टोडरमल स्मारक भवन में सायंकाल प्रवचन होता है, जिनसे काफी संख्या में तत्त्वप्रेमी समाज लाभ लेता है। बाहर से उनको प्रवचनार्थ बहुत आमंत्रण आते हैं, पर समयाभाव के कारण बहुत कम जा पाते हैं। फिर भी बम्बई, दिल्ली, गौहाटी, अहमदाबाद, उज्जैन, नागपुर, सोलापुर, कोल्हापुर, इन्दौर, ग्वालियर, सागर, उदयपुर, भीलवाड़ा, विदिशा, अलवर, आगरा, कुचामन, अशोकनगर, ललितपुर, शिरपुर, महावीरजी, गुना, सीकर, खण्डवा, कारंजा, मलकापुर, छिंदवाड़ा आदि कई स्थानों पर डॉ० भारिल्लजी गए हैं और उनके द्वारा महती धर्म प्रभावना हुई है। आपकी व्याख्यान शैली से सारा समाज परिचित ही है।

इस प्रकार संक्षेप में ट्रस्ट की गतिविधियों का परिचय आपके सम्मुख प्रस्तुत किया है। हमारे प्रत्येक विभाग का कार्यक्षेत्र बहुत बड़ा है और उसमें कार्य बढ़ाने की बहुत गुंजाइश है। तत्त्वप्रचार की ओर कई योजनाएँ भी विचाराधीन हैं।

अखिल भारतीय दिगम्बर भगवान महावीर २५००वाँ निर्वाण महोत्सव समिति ने हमारी उक्त सभी योजनाओं का हार्दिक समर्थन किया है। जो इस प्रकार है :—

"ऑल इण्डिया दिगम्बर भगवान महावीर
२५००वां निर्वाण महोत्सव सोसायटी द्वारा प्रकाशित

२५सौ वां निर्वाण महोत्सव बुलेटिन

[वर्ष २, अंक ७ (विशेषांक), पृष्ठ २, दिनांक १ अप्रेल, १९७३ ई०]

४. बच्चों की धर्म शिक्षा के लिए पाठ्यपुस्तकों और पाठशालाओं की योजना।

(क) श्री टोडरमल स्मारक भवन ट्रस्ट, जयपुर का नया और सफल प्रयास।

श्री टोडरमल स्मारक भवन ट्रस्ट के तत्त्वावधान में बच्चों को जैनधर्म के सिद्धान्तों, सदाचार की शिक्षाओं, जैन कथाओं और स्तुतियों आदि का क्रमबद्ध, सरल और रोचक ढंग से ज्ञान कराने के उद्देश्य से बालबोध तथा वीतराग-विज्ञान पाठमालाओं के तीन-तीन भाग तैयार किये गये हैं। ट्रस्ट के वीतराग-विज्ञान परीक्षा बोर्ड द्वारा संचालित परीक्षाओं में लगभग २०० संस्थाओं से १७,००० छात्र गत वर्ष हिन्दी, गुजराती, मराठी माध्यमों से परीक्षाओं में बैठे थे। पाठमालाओं का गुजराती और मराठी में अनुवाद हुआ है, तथा आगे के भागों का हो रहा है।

इस पाठ्य-क्रम को व्यावहारिक सफलता देने के उद्देश्य से उक्त ट्रस्ट ने 'प्रशिक्षण निर्देशिकाओं' (गाइड पुस्तकों) का भी प्रकाशन किया है जिनके माध्यम से अध्यापक यह ज्ञान प्राप्त करते हैं कि विद्यार्थियों को पाठ पढ़ाते समय क्या पद्धति अपनाई जाये।

भगवान् महावीर निर्वाण महोत्सव की अवधि में २५० पाठशालाओं की स्थापना करने की योजना है। ट्रस्ट शीतकालीन और ग्रीष्मकालीन शिक्षण-शिविर भी विभिन्न स्थानों पर चलाता है।

दिगम्बर भगवान् महावीर केन्द्रीय समिति ने ट्रस्ट की इन योजनाओं का हार्दिक समर्थन किया है। समाज से अनुरोध है कि वह अपने-अपने स्थानों पर शिक्षण-शिविरों की व्यवस्था तथा पाठशालाओं की स्थापना करके ट्रस्ट को सहयोग दे और धर्मशिक्षा का विस्तार करे।"

उक्त समिति ने हमारी योजनाओं और पाठ्य-पुस्तकों का मात्र शाब्दिक समर्थन ही नहीं किया, वरन् समिति की ओर से श्री साहूजी ने भारतवर्ष भर की समस्त निर्वाण महोत्सव समितियों को पाठ्य-पुस्तकों के २५० सैट प्रेरणा-पत्रों के साथ भिजवाये एवं उक्त पाठ्यक्रम को सभी स्थानों पर चलाने का आग्रह किया।

इस अवसर पर इस पुस्तक के ही नहीं, ट्रस्ट के प्रेरणा-स्रोत आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजी स्वामी को श्रद्धापूर्वक स्मरण किये बिना नहीं रह सकता। उन्होंने इस पुस्तक को आद्योपान्त सुनने की कृपा की है – उनके प्रति क्या आभार प्रगट करूँ? उन्होंने तो हम सब को सन्मार्ग में लगाया है।

ट्रस्ट की समस्त योजनाओं को सफल बनाने का श्रेय ट्रस्ट के सम्माननीय अध्यक्ष श्री पूरणचन्दजी गोदीका को है, जिनके बल पर ही ट्रस्ट की समस्त योजनाएँ निर्बाध चल रही हैं। इस पुस्तक के निर्माण में उनकी प्रेरणा और प्रकाशन में पूर्ण सहयोग अविस्मरणीय हैं।

डॉ० भारिल्लजी इस पुस्तक के ही नहीं, संस्था के भी प्राण हैं। संस्था के सभी कार्यक्रमों की रूपरेखा बनाने व उनको कार्यान्वित करने में आपका सीधा हाथ है।

श्री हुकुमचन्दजी गहाणकरी, मंत्री, श्री दिगम्बर भगवान महावीर २५००वाँ निर्माण महोत्सव समिति, नागपुर; माननीय श्री बाबूभाई चुन्नीलालजी मेहता फतेपुर, अध्यक्ष, श्री दिगम्बर भगवान महावीर २५००वाँ निर्वाण महोत्सव समिति, गुजरात; एवं श्री सुरज्ञानीचन्दजी लुहाड़िया, मंत्री, श्री दि० भगवान महावीर २५००वाँ निर्वाण महोत्सव समिति, जयपुर संभाग, जयपुर को भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते, जिन्होंने क्रमशः एक हजार और पांच-पांच सौ प्रतियों के आर्डर देकर अनुगृहीत किया है। हम उन सभी समितियों और महानुभावों के भी आभारी हैं, जिनके आर्डर हमें पुस्तक-मुद्रण के पहले ही प्राप्त हो चुके हैं। उन सब के नामों का उल्लेख करना यहाँ संभव नहीं है।

श्री राजमलजी जैन ने दिन-रात एक करके इस पुस्तक के एक-एक पृष्ठ को शुद्ध और सुन्दर बनाया है। उनका आभार जितना मानें उतना कम है।

अंत में श्री सोहनलालजी जैन व समस्त जयपुर प्रिण्टर्स परिवार बहुत-बहुत धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने अल्प समय में ही ऐसा सुन्दर मुद्रण करके आपके समक्ष प्रस्तुत किया है और जिनसे सदा ही घर जैसा व्यवहार प्राप्त हुआ है। श्री हेमचन्दजी को भी धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य मानता हूँ, जिन्होंने पांडुलिपि तैयार करने में पूरा-पूरा सहयोग दिया है।

द्वितीय संस्करण हेतु समुचित सुझावों की अपेक्षा के साथ,

ए-४, बापूनगर
जयपुर ३०२००४
१ नवम्बर, १९७४ ई०

नेमीचन्द पाटनी
मंत्री
पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

विषय-सूची

संकेत सूची

अ०	अध्याय
आ०	आचार्य
जै० मौ० इ० ती०	जैन धर्म का मौलिक इतिहास (तीर्थंकर खण्ड)
भा० सं० जै० यो०	भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान

शुद्धिपत्र

[नोट :– कृपया पुस्तक पढ़ने से पूर्व निम्नलिखित अशुद्धियां अवश्य ठीक कर लें।]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४७	२७	भले ही	भले ही तू
५०	२५	पुरुषार्थ	पुरुषार्थ से
७२	२४	हो सके	हो सकें
७३	५	की	कि
८४	२६	प्रभावित	अप्रभावित
१४७	२२	प्रमाणभास	प्रमाणाभास

पूर्व-परम्परा एवं पृष्ठभूमि

पूर्व भव

वर्तमान भव

मंगलाचरण

जो मोह माया मान मत्सर, मदन मर्दन वीर हैं।
जो विपुल विघ्नों बीच में भी, ध्यान धारण धीर हैं॥
जो तरण-तारण भव-निवारण, भव-जलधि के तीर हैं।
वे वंदनीय जिनेश, तीर्थंकर स्वयं महावीर हैं॥ १॥

जो राग-द्वेष विकार वर्जित, लीन आतम ध्यान में।
जिनके विराट् विशाल निर्मल, अचल केवलज्ञान में॥
युगपद् विशद् सकलार्थ झलकें, ध्वनित हों व्याख्यान में।
वे वर्द्धमान महान जिन, विचरें हमारे ध्यान में॥ २॥

जिनका परम पावन चरित, जलनिधि समान अपार है।
जिनके गुणों के कथन में, गणधर न पावें पार है॥
बस वीतराग-विज्ञान ही, जिनके कथन का सार है।
उन सर्वदर्शी सन्मती को, वंदना शत बार है॥ ३॥

पूर्व-परम्परा एवं पृष्ठभूमि

भगवान महावीर ने कोई नया धर्म नहीं चलाया। उन्होंने जो कुछ कहा, वह सदा से है, सनातन है। उन्होंने धर्म की स्थापना नहीं, उसका उद्घाटन किया है। उन्होंने धर्म को नहीं, धर्म में खोई आस्था को स्थापित किया। धर्म तो वस्तु के स्वभाव को कहते हैं[1]। वस्तु का स्वभाव बनाया नहीं जा सकता। जो बनाया जा सके वह स्वभाव कैसा? वह तो जाना जाता है। कर्त्तृत्व के अहंकार एवम् अपनत्व के ममकार से दूर रहकर जो 'स्व' और 'पर' को समग्र रूप से जान सके, भगवान महावीर के अनुसार वही भगवान है। भगवान जगत का तटस्थ ज्ञाता-दृष्टा होता है, कर्त्ता-धर्त्ता नहीं। जो समस्त जगत को जानकर उससे पूर्ण अलिप्त वीतराग रह सके अथवा पूर्ण रूप से अप्रभावित रहकर जान सके, वही भगवान है। तीर्थंकर भगवान वस्तु स्वरूप को जानते हैं, बताते हैं; बनाते नहीं।

भगवान महावीर तीर्थंकर थे, उन्होंने धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया। जिससे संसार-सागर तिरा जाय उसे तीर्थ कहते हैं और जो ऐसे तीर्थ को करें अर्थात् संसार-सागर से स्वयं पार उतरें तथा उतरने का मार्ग बतावें, उन्हें तीर्थंकर कहते हैं। भगवान महावीर भरतक्षेत्र में इस युग के चौबीसवें एवं अंतिम तीर्थंकर थे। उनसे पूर्व ऋषभदेव आदि तेईस तीर्थंकर और हो चुके थे जिनका विस्तृत वर्णन जैन पुराणों में उपलब्ध है।

[1] कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४७६

कालचक्र के किसी भी खण्ड को उसकी पूर्वोत्तर परम्परा से अलग करके नहीं देखा जा सकता है। पूर्वोत्तर परम्परा के परिपेक्ष्य से हटकर देखने पर उसमें अनेक विसंगतियाँ दृष्टिगोचर हो सकती हैं। यद्यपि अतीत को उजागर करने का काम इतिहास का है तथापि किसी भी प्राचीनतम संस्कृति, सभ्यता एवं उनके विभिन्न तत्कालीन समग्र परिवेश को मात्र कतिपय ऐतिहासिक उल्लेख सम्पूर्णतः प्रगट नहीं कर सकते। परिवेश को स्पष्ट करने के लिए प्राचीनतम पौराणिक परम्पराओं को ही आधार मानकर चलना होगा। तीर्थंकर भगवान महावीर की पूर्व-परम्परा एवं पृष्ठभूमि को समझने के लिए ऐतिहासिक आधार भी उपलब्ध हैं। उनके पूर्व २३वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ, २२वें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ और २१वें तीर्थंकर भगवान नमिनाथ को ऐतिहासिक महापुरुष स्वीकार कर लिया गया है।

मोहनजोदड़ो के खंडहरों में प्राप्त योगीश्वर ऋषभ की कायोत्सर्ग मुद्रा ने इतिहासकारों को प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव तक सोचने के लिए बाध्य कर दिया है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् एवं महान कवि रामधारीसिंह 'दिनकर' लिखते हैं :-

"मोहनजोदड़ो की खुदाई में योग के प्रमाण मिले हैं और जैन मार्ग के आदि तीर्थंकर जो श्री ऋषभदेव थे, जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई है जैसे शक्ति कालान्तर में शिव के साथ समन्वित हो गई। इस दृष्टि से कई जैन विद्वानों का यह मानना अयुक्तियुक्त नहीं है कि ऋषभदेव वेदोल्लिखित होने पर भी वेदपूर्व हैं[1]।"

जैन धर्म और तीर्थंकरों की परम्परा की प्राचीनता को वैदिक संस्कृति के प्राचीनतम ग्रंथ वेदों और वैदिक पुराणों में प्राप्त कतिपय उल्लेखों ने स्पष्ट कर दिया है। इस संदर्भ में प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् डॉ० राधाकृष्णन् का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है :-

"इस बात के प्रमाण पाये जाते हैं कि ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पूजा होती थी। इसमें कोई संदेह नहीं

---

[1] आजकल, मार्च १९६२, पृष्ठ ८ (जै० मो० इ० ती०, पृष्ठ ६०)

है कि जैन धर्म वर्द्धमान और पार्श्वनाथ से भी पहले प्रचलित था। यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों के नामों का निर्देश है। भागवत पुराण भी इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैन धर्म के संस्थापक थे[१]।"

प्रो० विरुपाक्ष वाडियर वेदों में जैन तीर्थंकरों के उल्लेखों का कारण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं :- "प्रकृतिवादी मरीचि ऋषभदेव का पारिवारिक था।.........मरीचि ऋषि के स्तोत्र वेद-पुराण आदि ग्रंथों में हैं और स्थान-स्थान पर जैन तीर्थंकरों का उल्लेख पाया जाता है। कोई ऐसा कारण नहीं कि हम वैदिक काल में जैन धर्म का अस्तित्त्व न मानें[२]।"

भागवत पुराण में ऋषभदेव का उल्लेख बड़े ही सन्मान के साथ हुआ है - "ऋषभदेव ने पृथ्वी का पालन करने के लिए भरत को राजगद्दी पर बिठाया और स्वयं उपशमशील, निवृत्ति-परायण महा मुनियों के भक्ति-ज्ञान और वैराग्य रूप परम-हंसोचित धर्म की शिक्षा देने के लिए बिलकुल विरक्त हो गये। केवल शरीर मात्र का परिग्रह रखा[३]।"

डॉ० बुद्धप्रकाश, डी० लिट्० ने अपने ग्रंथ "भारतीय धर्म एवं संस्कृति" में लिखा है :-

"महाभारत में विष्णु के सहस्र नामों में श्रेयांस, अनंत, धर्म, शान्ति और संभव नाम आते हैं और शिव के नामों में ऋषभ, अजित, अनन्त और धर्म मिलते हैं। विष्णु और शिव दोनों का एक नाम सुव्रत दिया गया है। ये सब नाम तीर्थंकरों के हैं। लगता है कि महाभारत के समन्वयपूर्ण वातावरण में तीर्थंकरों को विष्णु और शिव के रूप में सिद्ध कर धार्मिक एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। इससे तीर्थंकरों की परम्परा प्राचीन सिद्ध होती है[४]।"

---

[१] Indian Philosophy, Vol.I, p. 287

[२] महावीर जयन्ती स्मारिका १९६४, पृष्ठ ४२

[३] श्रीमद्भागवत, ५।५।२८ (जै० मौ० इ० ती०, पृष्ठ ५९)

[४] तीर्थंकर वर्द्धमान, पृष्ठ १५

मेजर-जनरल जे० सी० आर० फर्लांग ने अपनी पुस्तक "The Short Study in Science of Comparative Religion" में लिखा है :- ईसा से अगणित वर्ष पहले से जैन धर्म भारत में फैला हुआ था। आर्य लोग जब मध्य भारत में आये तब यहाँ जैन लोग मौजूद थे[1]।"

"जैनिज्म इन बिहार" पृष्ठ १ पर अभिव्यक्त पी० सी० राय चौधरी की राय है कि -"आधुनिक कुछ लेखकों ने यह लिखकर एक साधारण भूल की है कि ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध असंतोष की भावनायें फैल जाने के कारण, जैन धर्म की उत्पत्ति हुई। इस गलत धारणा का सूत्रपात इसलिए हुआ कि इन्होंने वर्द्धमान महावीर को जैन धर्म का प्रवर्त्तक मान लिया। यह तथ्य ठीक नहीं है।........जैन धर्म की उत्पत्ति एवं प्रसार पहले से ही हो चुका था और महावीर ने इसका अत्यधिक प्रचार किया था और यही कारण है कि इस प्रकार की गलत धारणा कई ख्याति प्राप्त विद्वानों से हो गई[2]।"

तीर्थंकर भगवान महावीर ने तो जैन धर्म की स्थापना की ही नहीं, प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने भी जैन धर्म की स्थापना नहीं की है। भगवान धर्म की स्थापना नहीं करते; वरन् धर्म का आश्रय लेकर आत्मा, परमात्मा (भगवान) बनता है। जैन मान्यतानुसार भगवान अनन्त होते हैं, पर भरत क्षेत्र में एक युग में तीर्थंकर चौबीस ही होते हैं। प्रत्येक तीर्थंकर भगवान तो नियम से होते हैं, पर प्रत्येक भगवान तीर्थंकर नहीं। तीर्थंकर हुए बिना भी भगवान बना जा सकता है।

सर्वकाल और सर्वक्षेत्रों की अपेक्षा तीर्थंकर भगवान भी अनन्त होते हैं। तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से भी पहले अनन्त तीर्थंकर भगवान हो गये हैं एवं विदेहादि अन्य क्षेत्रों में होते रहते हैं। इस सब को समझने के लिए भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित कालचक्र को समझना होगा।

---

[1] जैन धर्म, पृष्ठ ११

[2] महावीर जयन्ती स्मारिका १६६८, पृष्ठ १२८

कालचक्र

यद्यपि द्रव्यदृष्टि से यह जगत नित्य है तथापि पर्यायदृष्टि से परिणमनशील भी है। जगत में कोई प्रच्छन्न ईश्वरीय शक्ति ऐसी नहीं है जो उस परिणमन की नियामक हो, फिर भी वह परिणमन अव्यवस्थित नहीं है। व्यवस्था है, पर व्यवस्थापक नहीं। नियम हैं, पर नियन्ता नहीं। अपने-अपने परिणमन का नियामक प्रत्येक द्रव्य स्वतः ही है। कालद्रव्य तो उसके परिणमन में निमित्त-मात्र है।

समय अपने को दुहराता है, यह एक प्राकृतिक नियम एवं वैज्ञानिक व्यवस्था है। जिस प्रकार दिन-रात, पक्ष-मास, ऋतुयें और वर्ष अपने को दुहराते हैं; उसी प्रकार शताब्दियाँ, सहस्राब्दियाँ आदि तथा संख्यातीत काल भी किन्हीं प्राकृतिक नियमों के द्वारा अपने को दुहराते हैं। कालचक्र के इस परिवर्तन में स्वाभाविक उतार-चढ़ाव आते हैं जिन्हें जैन परिभाषा में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के नाम से जाना जाता है। जहाँ उत्सर्पिणी क्रमशः विकास की प्रक्रिया है, वहाँ अवसर्पिणी क्रमशः ह्रास की प्रक्रिया है। उत्सर्पिणी में प्राणियों के बल, आयु और शरीरादि का प्रमाण क्रमशः बढ़ता जाता है और अवसर्पिणी में उसी क्रम से घटता जाता है। इस प्रकार यदि उत्सर्पिणी बढ़ने का नाम है तो अवसर्पिणी घटने का। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनों में प्रत्येक का काल दस-दस कोड़ाकोड़ी सागर है। इस प्रकार कुल मिलाकर बीस कोड़ाकोड़ी सागर का एक कल्पकाल होता है। प्रत्येक कल्पकाल में तीर्थंकरों की दो चौबीसी होती हैं। अवसर्पिणी काल के छह भेद हैं – (१) सुखमा-सुखमा (२) सुखमा (३) सुखमा-दुःखमा (४) दुःखमा-सुखमा (५) दुःखमा (६) दुःखमा-दुःखमा। इसी प्रकार उत्सर्पिणी भी छह प्रकार का होता है :- (६) दुःखमा-दुःखमा (५) दुःखमा। (४) दुःखमा-सुखमा (३) सुखमा-दुःखमा (२) सुखमा (१) सुखमा-सुखमा।

उक्त कालों में सुख-दुःख की स्थिति उनके नामानुसार ही होती है। यहाँ सुख शब्द लौकिक सुख (भोग) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तृतीय काल तक भोग की ही प्रधानता रहती है, यहाँ तक कि

आध्यात्मिक उन्नति के तो अवसर ही प्राप्त नहीं होते। तीर्थंकरों की उत्पत्ति चतुर्थकाल में ही होती है और मुक्ति मार्ग भी चतुर्थकाल में ही चलता है। इस दृष्टि से चतुर्थकाल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तृतीयकाल के अन्त में चौदह कुलकर होते हैं और चतुर्थ काल में त्रेसठ शलाका के महापुरुष। त्रेसठ शलाका के महापुरुष निम्नानुसार हैं – २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण, ९ बलभद्र।

वर्तमान में अवसर्पिणी काल का पंचमकाल चल रहा है। इसमें न तो कुलकर ही होते हैं और न त्रेसठ शलाका महापुरुषों की उत्पत्ति ही होती है। किसी को मुक्ति (मोक्ष) की भी प्राप्ति नहीं होती है। चतुर्थकाल में जो त्रेसठ शलाका के महापुरुष हुए हैं, विशेषकर उनके चरित्रों का वर्णन ही जैन पुराणों का कथ्य है। इस प्रकार अनन्त कल्पकाल बीत चुके हैं और भविष्य में अनन्त होंगे। तदनुसार तीर्थंकरों की अनन्त चौबीसियाँ इस भरतक्षेत्र में हो चुकी हैं और भविष्य में अनन्त और होंगी। ऐसी ही व्यवस्था ऐरावत क्षेत्र की है। विदेह क्षेत्र की व्यवस्था इससे कुछ भिन्न प्रकार की है। वहाँ सदा चतुर्थकाल जैसी स्थिति रहती है।

जैन भूगोल के अनुसार मध्यलोक में विद्यमान असंख्यात द्वीप-समुद्रों में से ढाई-द्वीप में ही मानवों की उत्पत्ति होती है, अतः तीर्थंकर भी ढाई-द्वीप में ही उत्पन्न होते हैं। एक लाख योजन विस्तार वाले प्रथम द्वीप (जम्बूद्वीप) में सात क्षेत्र हैं – भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत। इन सबकी विस्तृत जानकारी के लिए जैनागम का गहन अध्ययन अपेक्षित है। उन सबका वर्णन करना यहाँ अप्रांसगिक होगा।

यद्यपि इस अवसर्पिणी काल की दृष्टि से तीर्थंकर भगवान महावीर भरतक्षेत्र के चौबीसवें व अन्तिम तीर्थंकर हैं तथापि समग्रतः विचार करने पर न तो उन्हें किसी निश्चित संख्या का कहा जा सकता है और न ही अंतिम, क्योंकि "कालो ह्ययं निरवधि विपुला च पृथ्वी[1]।" काल सीमातीत है और पृथ्वी बहुत बड़ी है।

---

[1] मालतीमाधव : महाकवि भवभूति

प्रथम, द्वितीय, तृतीय काल में क्रमशः उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था रहती है, उसमें भोगों की ही प्रधानता रहती है। सबको सभी प्रकार की भोग-सामग्री कल्पवृक्षों के माध्यम से सहज उपलब्ध रहती है। जीवन लौकिक दृष्टि से आनन्दमय होने पर भी आध्यात्मिक दृष्टि से उनके विकास का मार्ग एक प्रकार से अवरुद्ध ही रहता है। चतुर्थकाल में कर्मभूमि का आरंभ होता है। भोगों की सहज उपलब्धि क्रमशः समाप्त होने लगती है और आजीविका प्रयत्न-साध्य एवं क्रमशः श्रम-साध्य होती जाती है, किन्तु आध्यात्मिक उन्नति के अवसर का द्वार खुल जाता है। तृतीयकाल के अन्त में होने वाले चौदह कुलकर सर्वसाधारण को कर्मभूमि की व्यवस्था में प्रशिक्षित करते हैं। इस अवसर्पिणी काल के चौदहवें कुलकर राजा नाभिराय थे। इन तक आते-आते तृतीय काल समाप्त-प्रायः था और भोगभूमि क्रमशः कर्मभूमि के रूप में व्यवस्थित होने लगी थी।

ऋषभदेव

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म अयोध्या नगरी में वहाँ के राजा चौदहवें कुलकर नाभिराय की रानी मरुदेवी के गर्भ से हुआ था। वे जन्म से ही विलक्षण प्रतिभा के धनी इक्ष्वाकुवंशी थे। नाभिराय के बाद वे राजगद्दी पर बैठे। उन्होंने अपने राज्यकाल में अनेक जनोपयोगी कार्यों के साथ-साथ प्रजा को असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प – इन षट्कर्मों से आजीविका करना सिखाया[1], क्योंकि उस समय भोगभूमि समाप्त हो जाने से कल्पवृक्षों के अभाव के कारण आजीविका सहज न रह गई थी। आजीविका श्रमसाध्य हो जाने से संघर्ष की स्थिति टालने के लिए व्यवस्था आवश्यक हो गई थी। कर्म-भूमि के आरंभ होने से तत्सम्बन्धी समस्त व्यवस्था आरंभ में राजा ऋषभदेव के द्वारा स्थापित हुई। यही कारण है कि उन्हें प्रजापति, ब्रह्मा, विधाता, आदिपुरुष आदि नामों से भी पुकारा गया है।

---

[1] प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः शशास कृष्यादिसु कर्मसु प्रजाः ॥

– स्वयंभू स्तोत्र : आ० समन्तभद्र

राजकुमार ऋषभदेव ने विवाह भी किया था, उनकी दो रानियाँ (पत्नियाँ) थीं – यशस्वती और सुनन्दा। यशस्वती का दूसरा नाम नन्दा भी था। राजा ऋषभदेव के १०१ पुत्र और २ पुत्रियाँ थीं। रानी यशस्वती से भरतादि सौ पुत्र और ब्राह्मी नामक पुत्री एवं सुनन्दा से बाहुबली नामक पुत्र एवं सुन्दरी नामक पुत्री उत्पन्न हुई थीं।

एक ओर जहाँ उन्होंने अपने भरतादि पुत्रों को युद्ध आदि कठोर विद्याओं में पारंगत किया वहाँ ब्राह्मी और सुन्दरी बेटियों को क्रमशः अक्षर (लिपि) एवं अंक विद्या सिखाई। प्राचीन शिलालेखों की लिपि को आज भी ब्राह्मी लिपि कहा जाता है। इसका कारण ऋषभदेव द्वारा उक्त विद्या को सर्वप्रथम ब्राह्मी नामक बेटी को सिखाना था, उसी के नाम से लिपि का नाम ब्राह्मी लिपि चल पड़ा। ब्राह्मी लिपि के संदर्भ में डॉ० रामधारीसिंह 'दिनकर' ने लिखा है :–

"द्राविड़ भाषाओं की सभी लिपियाँ ब्राह्मी से निकली हैं।······ दक्षिण भारत में प्रचलित जैन परम्परा के अनुसार ब्राह्मी रिषभदेव की बड़ी पुत्री थी। रिषभदेव ने ही अठारह प्रकार की लिपियों का आविष्कार किया जिनमें से एक लिपि कन्नड़ हुई[1]।"

यद्यपि विद्या शब्द बहुत व्यापक है, विद्याध्ययन के क्षेत्र में अक्षर और अंक विद्या के अतिरिक्त अनेक विद्याएँ आ जाती हैं, तथापि आज विद्याध्ययन से अंक और अक्षर विद्या के माध्यम से सीखी जाने वाली विद्याएँ ही ली जाती हैं। इनको जानने वाले को ही आज शिक्षित कहा जाता है। इनको न जानने वाला इनके अतिरिक्त अन्य अनेक विद्याओं में निपुण हो, फिर भी उसे अशिक्षित ही कहा जायगा। शिक्षा का अर्थ ही अंक विद्या और अक्षर विद्या हो गया है। इस शिक्षा के क्षेत्र में नारी समाज आज भी पिछड़ा हुआ है। यद्यपि इन वर्षों में नारी शिक्षा का बहुत प्रचार व प्रसार हुआ है तथापि अभी वह स्थिति नहीं आई है जो पुरुषों की है। ५०–६० वर्ष पूर्व तो और भी विचारणीय स्थिति थी। लाखों में कोई एकाध महिला शिक्षित मिल जावे तो सौभाग्य माना जाता था। नारियों का काम पढ़ना-लिखना नहीं है, इस विचारधारा ने

---

[1] संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ४४

महिलाओं में अशिक्षा के प्रचार-प्रसार में बहुत योग किया है। ऋषभदेव ने अपनी पुत्रियों को ही सर्वप्रथम उक्त विद्याएँ सिखाई। उक्त तथ्य से जैन धर्म का दृष्टिकोण नारी शिक्षा के प्रति क्या है, स्पष्ट हो जाता है।

एक दिन (चैत्र कृष्ण नवमी) राजा ऋषभदेव सैकड़ों राजाओं से घिरे राजसिंहासन पर आरूढ़ थे एवं सर्वांग-सुन्दरी अप्सरा नीलांजना का नृत्य चल रहा था। उसके मनोहारी नृत्य को देखकर ऋषभदेव सहित समस्त सभासद मुग्ध हो रहे थे, तभी अचानक देवांगना की आयु समाप्त हो गई। उसके दिवंगत होते ही इन्द्र ने तत्काल उसी के सदृश अन्य देवांगना का नृत्य प्रारंभ करा दिया। यद्यपि यह सब इन्द्र ने इतनी शीघ्रता एवं चतुराई से किया कि किसी को पता भी न चला किन्तु यह सब सूक्ष्मदर्शी राजा ऋषभदेव की दृष्टि से ओझल न रह सका। संसार की नश्वरता ख्याल में आते ही रंग-राग का रस फीका पड़ गया और वे वैराग्य के रंग में सरावोर हो गये। उन्होंने दिगम्बरी दीक्षा लेने का संकल्प किया।

यह जानकर लोकान्तिक देव उपस्थित हुए और उन्होंने भगवान के इस पवित्र विचार की भरपूर अनुमोदना की। यद्यपि परिजन और पुरजनों ने बहुत अनुनय-विनयपूर्वक आग्रह किया, पर दृढ़-मनस्वी ऋषभदेव को कोई उनके सत्संकल्प से विचलित न कर सका। अन्ततोगत्वा भरत को अयोध्या का और बाहुवली को पोदनपुर का राज्य दे, सिद्धों को नमस्कार कर, राजा ऋषभदेव मुनिराज हो गये।

उनके साथ कच्छादि चार हज़ार राजाओं ने भी दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली। साथी राजाओं को अन्तर की पकड़ तो थी नहीं, वे तो उनके साथ भावुकतावश दीक्षित हो गये थे। मुनिराज ऋषभदेव ध्यानस्थ हुए तो छह माह तक ध्यान में ही खड़े रहे। उन जैसी धीरता-वीरता अन्य वेषधारी साधुओं के कहाँ थी! वे भूख-प्यास से आकुल-व्याकुल होने लगे। ऋषभदेव तो मौन थे, अन्य साधुओं को मार्गदर्शन करने वाला भी कोई नहीं था। वे ऋषभदेव से अनुमति लेकर तो साधु हुए नहीं थे। आत्मध्यान की तल्लीनता में उन्हें तो

इनका कोई ध्यान ही न था। वे लोग अन्ततोगत्वा अपनी-अपनी कल्पनानुसार विभिन्न वेष धारण कर कंद-मूल भक्षणादि के द्वारा अपनी क्षुधा को शान्त करने लगे।

इस प्रकार सद्धर्म एवं सद्-साधुता के साथ कुधर्म और कु-साधुता का भी आरंभ हो गया। भोगभूमि में तो सभी जीव मरकर देव ही होते थे किन्तु कर्मभूमि के आरंभ होते ही जहाँ मुक्ति का मार्ग आरंभ हुआ वहीं चतुर्गति का मार्ग भी खुल गया। उन चार हज़ार भ्रष्ट साधुओं में भरत चक्रवर्ती का पुत्र मारीचि भी था जो बहुत अच्छी-बुरी योनियों में भ्रमण करता हुआ अन्त में जाकर अंतिम तीर्थंकर महावीर हुआ।

छह माह बाद जब मुनिराज ऋषभदेव का ध्यान भग्न हुआ तब वे आहार के लिए निकले किन्तु कर्मभूमि का आरंभ होने से कोई भी व्यक्ति मुनिराज को आहार देने की विधि नहीं जानता था। सात माह नौ दिन तक उन्हें आहार प्राप्त न हो सका। इस प्रकार एक वर्ष एक माह नौ दिन के बाद मुनि अवस्था में सर्वप्रथम उनका आहार हस्तिनापुर नगर में राजा सोमप्रभ के भाई श्रेयांस के हाथ से हुआ। उन्हें जातिस्मरण के द्वारा पूर्व भव में दिये गये मुनिराजों के आहार का स्मरण हो गया था, जिससे उन्हें आहार की विधि ज्ञात हो गई थी। आहार बैसाख सुदी तृतीया के दिन हुआ था। उसी दिन से उस दिन को अक्षय तृतीया पर्व के रूप में मनाया जाने लगा। इस प्रकार इस युग के धर्मतीर्थ के प्रवर्तक तीर्थंकर ऋषभदेव एवं दानतीर्थ के प्रवर्तक राजा श्रेयांस हुए।

मुनिराज ऋषभदेव एक हज़ार वर्ष तक बराबर मौन आत्म-साधनारत अन्तर्बाह्य घोर तपश्चरण करते रहे। एक दिन आत्म-लीनता की दशा में उन्हें केवलज्ञान (पूर्णज्ञान) की प्राप्ति हुई। इन्द्र ने आकर उनकी धर्म-सभा (समवशरण) की व्यवस्था की। भरत के छोटे भाई वृषभसेन ऋषभदेव के मुख्य गणधर बने। उनकी पुत्रियों ब्राह्मी व सुन्दरी ने भी आर्यिका के व्रत ग्रहण कर लिए और गणिनी पद प्राप्त किया। वे चार हज़ार राजा जो ऋषभदेव के साथ दीक्षित होकर फिर भ्रष्ट हो गये थे, उनमें से अधिकांश ने अपनी गलती सुधार

कर भगवान ऋषभदेव से पुनः दीक्षा ग्रहण कर ली; किन्तु मारीचि ने कषायवश अपनी भूल न सुधारी और नया मत स्थापित कर भगवान ऋषभदेव का विरोध करने लगा।

अन्त में भगवान ऋषभदेव आयु की समाप्ति पर अन्तिम देह का भी परित्याग कर कैलाश पर्वत से मोक्ष पधारे। इस अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर होने से इन्हें आदिनाथ भी कहा जाता है।

एक प्रश्न : दो उत्तर

उपर्युक्त विश्लेषणोपरान्त यह एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि क्या भगवान ऋषभदेव ने शादी की, उनके पत्नियाँ थीं, उन्होंने राज्य किया, कृषि आदि का उपदेश दिया ? क्या भगवान भी शादी करते हैं, राज्य करते हैं, कृषि आदि का उपदेश देते हैं, उनके भी बच्चे होते हैं ? यदि हाँ, तो फिर हममें और उनमें क्या अन्तर रहा ? हम जैसे ही वे हुए !

यद्यपि यह सत्य है कि भगवान की शादी कैसी ? पत्नियाँ कहाँ कीं ? उनको राज्य से क्या प्रयोजन ? कृषि आदि के उपदेश से क्या मतलब ? क्योंकि भगवान तो पूर्ण वीतरागी होते हैं, वीतरागी के शादी-विवाह जैसी रागादि की विक्रियाएँ संभव नहीं हैं। वस्तुतः बात यह है कि शादी तो राजकुमार ऋषभदेव की हुई थी, पत्नियाँ तो राजा ऋषभदेव की थीं, राज्य भी राजा ऋषभदेव ने किया था और कृषि आदि का उपदेश भी राजा ऋषभदेव का ही कार्य था; भगवान ऋषभदेव का नहीं।

वस्तुतः वे जन्म से भगवान नहीं थे। जन्म से कोई भगवान नहीं होता। भगवान जन्मते नहीं, बनते हैं। भगवान तो वे बाद में बने, जब उन्होंने अपने को जीता। मोह-राग-द्वेष को जीतना ही अपने को जीतना है। भगवान तो उन्हें कहते हैं जो पूर्ण वीतरागी व सर्वज्ञ हों। वे न तो जन्म से पूर्ण वीतरागी थे और न सर्वज्ञ ही। पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता तो उन्होंने तब प्राप्त की जब वे स्त्री-पुत्रादि एवं राज्यादि परिग्रह एवं तत्सम्बन्धी राग त्याग कर नग्न-दिगम्बर साधु बने एवं अन्तर्निमग्न हो उन्होंने सम्पूर्ण राग-द्वेष और अल्पज्ञता का पूर्ण

अभाव कर डाला। अतः सर्वज्ञता और पूर्ण वीतरागता की प्राप्ति के पूर्व जहाँ भी उनके साथ 'भगवान' विशेषण का प्रयोग हो, उसे उपचरित कथन ही जानना चाहिए। भविष्य में भगवान बनेंगे, इस आधार पर ही वैसा कहा जाता है। कृषि आदि के उपदेश को भगवान का उपदेश कहना भी इसी प्रकार का कथन है। इस बात को समझने के लिए जैन दर्शन की कथन-पद्धति को समझना चाहिए।

भरत और बाहुबली

राजा ऋषभदेव के १०१ पुत्रों में भरत और बाहुबली जैन पुराणों में बहुचर्चित व्यक्तित्त्व हैं। भरत सबसे बड़े थे और वे भरत क्षेत्र के व इस युग के प्रथम चक्रवर्ती सम्राट थे। उनके ही नाम से इस देश का नाम 'भारत' पड़ा है। भागवत में इसका उल्लेख इस प्रकार है – "महायोगी भरत ऋषभदेव के शत पुत्रों में ज्येष्ठ थे और उन्हीं से यह देश भारतवर्ष कहलाया[1]।" उक्त तथ्य को पुष्ट करने वाले प्रभूत प्रमाण भारतीय प्राचीन साहित्य में उपलब्ध हैं[2]।

इस संदर्भ में रामधारीसिंह 'दिनकर' ने लिखा है – "भरत रिषभदेव के ही पुत्र थे, जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारत पड़ा[3]।" उन्होंने चक्ररत्न के द्वारा भरतक्षेत्र के सम्पूर्ण छह खण्डों को अपने आधीन किया और राजनीति का विस्तार कर अपने आश्रित राजाओं को राज्य-शासन की पद्धति सिखलाई। जहाँ एक ओर चक्रवर्ती सम्राट भरत राज्यावस्था में सर्व प्रकार सतर्क, योग्य प्रशासक हैं; वहीं वे योगियों में श्रेष्ठ प्रमाणित होते हैं, मुनि-दीक्षा लेने के दो घड़ी के भीतर पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता प्राप्त कर लेते हैं।

महाबली बाहुबली भी महान योद्धा, भरत चक्रवर्ती से भी अविजित, सर्वांग-सुन्दर प्रथम कामदेव, महान-तपस्वी योगिराज एवं

---

[1] येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुणश्चासीत्।
येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति ॥
– श्रीमद्भागवत, ५।४।१०

[2] (क) महापुराण : प्रस्तावना, पृष्ठ २७–२८
(ख) जै० मौ० इ० ती०, पृष्ठ ६१

[3] संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ १२९

इस युग में सर्वप्रथम (भगवान ऋषभदेव से भी पहले) मोक्षलक्ष्मी को वरण करने वाले हुए हैं। मुनि दीक्षा लेने के बाद वे आहारादि को निकले ही नहीं, ध्यान में ऐसे मग्न हुए कि पूर्ण वीतरागता एवं सर्वज्ञता प्राप्त करने के पूर्व हिले भी नहीं, भले ही एक वर्ष लग गया। एक वर्ष तक ध्यानमुद्रा में ही खड़े रहे। बरसात में उनसे बेलें लिपट गईं, उनके पगतल दीमकों से आवेष्टित हो गये, पर उन्हें उधर का लक्ष्य ही नहीं था। उनकी तपश्चर्या पुराण-प्रसिद्ध है। बेलों से लिपटी हुई उनकी विशाल ५७ फुट उत्तुंग पाषाण प्रतिमा श्रवणबेलगोला (मैसूर) में स्थित है। उक्त पाषाण प्रतिमा भारत में इतनी लोकप्रिय है कि उसकी अनुकृति के रूप में लाखों प्रतिमाएँ समस्त भारतवर्ष के जिनालयों में स्थापित हैं और प्रतिवर्ष स्थापित की जाती हैं।

भरत और बाहुबली के संघर्ष की बड़ी ही रोचक कथा पुराणों में आती है, जो इस प्रकार है :-

भरत को चक्ररत्न की प्राप्ति हुई और वे भरतक्षेत्र के छहों खण्ड जीतने को निकले। यद्यपि उनकी दिग्विजय यात्रा सकुशल सम्पन्न हुई तथापि चक्ररत्न अयोध्या के द्वार पर ही रुक गया। उसने अयोध्या में प्रवेश नहीं किया। इसके कारणों की खोजबीन हुई तब पता चला कि चक्ररत्न सम्पूर्ण छह खण्ड को आधीन किए बिना अन्दर प्रवेश नहीं करता। ऐसा कौन है जिसने सम्राट भरत की आधीनता न मानी हो ? चारों ओर दृष्टि घुमाने पर पता चला कि और तो कोई बाकी नहीं रहा, मात्र सम्राट के अनुजों को छोड़कर। सम्राट भरत की आधीनता स्वीकार करने के लिए समस्त भाइयों के पास राजदूत भेजे गये। प्रायः सभी को सम्राट भरत का उक्त प्रस्ताव अनुचित लगा।

बाहुबली को छोड़कर अन्य सभी भाइयों को तो संसार की स्वार्थपरता देख वैराग्य हो गया और उन्होंने जाकर ऋषभदेव के पास दिगम्बरी दीक्षा धारण करली, किन्तु बाहुबली ने दूत से कहा कि छोटा भाई बाहुबली बड़े भाई भरत के सामने झुक सकता है, पर राजा बाहुबली महाराजा भरत के सामने नहीं। यदि उन्हें शक्ति का गर्व है तो मैं उसके परीक्षण के लिए तैयार हूँ। फिर क्या था, थोड़े

ही दिनों में दोनों की सेनायें आमने-सामने थीं। दोनों के बुद्धिमान मंत्रियों ने समझाने का बहुत प्रयत्न किया। सफलता न मिलने पर उन्होंने परस्पर विचार किया कि ये तो दोनों ही महाबली चरमशरीरी हैं, इनका तो कुछ बिगड़ने वाला नहीं है, क्यों व्यर्थ ही दोनों ओर की सेनाओं का रक्तपात किया जाय? दोनों ओर के मंत्रियों ने मिलकर उनसे विनम्रतापूर्वक आग्रह किया कि क्यों न आप दोनों ही अपना शक्ति परीक्षण कर लें, व्यर्थ में ही सेनायें क्यों कटें? दोनों को ही प्रस्ताव स्वीकृत हो गया और फिर तीन प्रकार की युद्ध प्रतियोगिताएँ निश्चित हुईं – दृष्टि युद्ध, जल युद्ध और मल्ल युद्ध।

बाहुबली शारीरिक दृष्टि से भरत से बलिष्ठ भी थे और उन्नतकाय भी। अतः वे तीनों ही युद्धों में अपराजेय रहे। पराजय का अपमान भरत सह न सके, वे क्रोधावेश में आ गये और उन्होंने मर्यादा का उल्लंघन कर बाहुबली पर चक्र चला दिया, फिर भी बाहुबली अक्षत एवं अपराजित रहे। किन्तु यह देख बाहुबली को संसार, विषय और भोगों से सहज वैराग्य हो गया। उन्होंने सब कुछ त्यागकर दिगम्बरी दीक्षा स्वीकार करली। भरत हारकर भी चक्रवर्ती बन गए।

भरत के समस्त भाई-बहिन दीक्षित हो गए। यद्यपि भरत षट्खण्ड का राज्य करते हुए घर में ही रहे तथापि उनका गार्हस्थ जीवन भी अपूर्व एवं अनुकरणीय था। उनके गार्हस्थ जीवन को लोक-जीवन में इस प्रकार गाया जाता है :–

भरतजी घर ही में वैरागी।
वे तो अन्न-धन सबके त्यागी ।।भरतजी०।। टेक ।।
कोड़ अठारह तुरंग हैं जाके, कोड़ चौरासी पागी।
लाख चौरासी गज, रथ सोहैं तो भी भये नहिं रागी ।।भरतजी०।।
तीन करोड़ गोकुल घर सोहैं, एक करोड़ हल साजै।
नव निधि रत्न चौदह घर जाके, मनबांछा सब भागी ।।भरतजी०।।
चार कोड़ मरण नाज उठै नित, लोरण लाख दश लागै।
कोड़ थाल कंचन-मरिण सोहैं, नाहीं भया सोई रागी ।।भरतजी०।।
ज्यों जल बीच कमल अन्तःपुर, नाहिं भये वे रागी।
भविजन होय सोई उर धारो, सोई पुरुष बड़भागी ।।भरतजी०।।

अजित से नमि तक

ऋषभदेव के बाद दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ से लेकर इक्कीसवें नमिनाथ तक के जीवन-चरित्र भी जैन साहित्य में उपलब्ध हैं, पर उतने विस्तार के साथ नहीं जितने विस्तार के साथ ऋषभदेव का वर्णन मिलता है। ऋषभदेव की अपेक्षा नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर का भी वर्णन संक्षिप्त हुआ है।

इसका मूल कारण यह है कि चौबीसों ही तीर्थंकरों का मूल जीवन कुछ विशिष्ट घटनाओं को छोड़कर प्रायः एक सा ही होता है। सभी पूर्व भवों में तीर्थंकर प्रकृति नामक महापुण्य बांधकर आते हैं, अतः उनके पंच कल्याणक एक से ही होते हैं, उनका विस्तृत वर्णन करने में पुनरुक्ति होती है। यही कारण है कि ऋषभ के वर्णन के उपरान्त अजित आदि तीर्थंकरों के वर्णन में काव्यगत सौंदर्य के लिए विशेष अवकाश नहीं रह जाता। प्रायः कुछ विशिष्ट घटनाओं को छोड़कर जो ऋषभदेव का वर्णन है, वही सभी तीर्थंकरों का है।

अजित से नमि तक के काल में विशेष उल्लेखनीय बात यह है – सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ, सत्रहवें तीर्थंकर कुन्थुनाथ एवं अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ – तीर्थंकर होने के साथ-साथ चक्रवर्ती और कामदेव भी थे।

चक्रवर्ती सम्पूर्ण भरतक्षेत्र के छहों खण्डों का एकाधिकार प्राप्त सम्राट होता है, उसके अन्तर्गत बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा होते हैं। उसे नवनिधि और चौदह रत्न प्राप्त होते हैं। उसके छयानवें हजार रानियाँ होती हैं। उसकी सेना में चौरासी करोड़ योद्धा, अठारह करोड़ घोड़े, चौरासी लाख हाथी और इतने ही रथ होते हैं। उसके तीन करोड़ गायें और एक करोड़ हल होते हैं। चक्रवर्ती के वैभव की विशेष जानकारी के लिए जैन पुराणों का अनुशीलन करना चाहिए।

कामदेव से तात्पर्य है सर्वांग-सुन्दर शरीर के धारी महापुरुष। ये भी चौबीस होते हैं।

यद्यपि इन तीर्थंकरों के चक्रवर्ती होने के कारण कथानक में कुछ विशेषताएँ होने से विशिष्ट वर्णन संभव था, किन्तु ऋषभदेव के चरित्र के साथ ही उनके प्रथम पुत्र भरत के चक्रवर्ती होने से चक्रवर्ती सम्बन्धी समस्त वर्णन भी वहीं हो जाता है; अतः यहाँ भी पुनरुक्ति की संभावना बनी रहती है ।

बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के समय में भारतीय साहित्य में सर्वाधिक चर्चित महापुरुष राम और लक्ष्मण हुए हैं । जैन मान्यतानुसार राम तीर्थंकर न थे, फिर भी जैन साहित्य में उनका अंकन सर्वाधिक हुआ है । कई तीर्थंकर ऐसे हैं जिन पर स्वतंत्र रूप से कोई पुराण या महाकाव्य नहीं मिलेगा, किन्तु राम के जीवन को चर्चित करने वाले अनेक पुराण और काव्य प्राप्त होंगे । इसमें सबसे बड़ा कारण राम के चरित्र की विविधता है । जीवन का कोई भी ऐसा अंग नहीं है जिस पर राम का चरित्र प्रकाश न डालता हो । राष्ट्रकवि मैथिलीशरण 'गुप्त' का यह कथन शत-प्रतिशत सत्य है :–

"राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है ।
चाहे जो बन जाय कवि संभाव्य है[१] ।"

जैन मान्यतानुसार राम और लक्ष्मण त्रेसठ शलाका के महापुरुषों में आते हैं । राम बलभद्र थे और लक्ष्मण नारायण । रावण को प्रतिनारायण माना गया है । हनुमान की गणना कामदेवों में की गई है । राम और हनुमान दोनों ने ही जीवन के अन्त में नग्न-दिगम्बरी दीक्षा धारण कर पूर्ण ज्ञान एवं पूर्ण वीतरागता प्राप्त की थी । वे तीर्थंकर नहीं, पर तीर्थंकर भगवानों जैसे ही पूज्य हैं, उनकी पूज्यता में कोई अन्तर नहीं है । जैसे बाहुबली तीर्थंकर नहीं थे, फिर भी सर्वज्ञ और वीतरागी होने से पूर्ण पूज्य हैं, उनकी पाषाण प्रतिमाएँ आदिनाथ और महावीर जैसी ही पूजी जाती हैं; उसी प्रकार राम भी पूर्ण पूज्य भगवान हैं ।

---

[१] साकेत, मुखपृष्ठ

नेमिनाथ

बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। शौरीपुर नरेश अन्धकवृष्टि के दस पुत्र हुए। सबसे बड़े पुत्र का नाम समुद्रविजय और सबसे छोटे पुत्र का नाम वसुदेव था। समुद्रविजय नेमिनाथ के पिता थे और वसुदेव श्रीकृष्ण के। नेमिनाथ की माँ का नाम शिवादेवी था। जरासंध के भय से यादवगण शौरीपुर छोड़कर द्वारका नगरी में रहने लगे थे। जरासंध उस समय अर्द्धचक्रवर्ती सम्राट एवं प्रतिनारायण था। कालान्तर में उसे जीतकर श्रीकृष्ण अर्द्धचक्रवर्ती सम्राट बने। श्रीकृष्ण त्रेसठ शलाका के महापुरुषों में हैं। वे नारायण और उनके भाई बलदेव बलभद्र थे। यह महाभारत का युग था। इनके समय में ही पाण्डव और कौरव हुए जिनका विस्तृत वर्णन जैन पुराणों में उपलब्ध होता है।

नेमिनाथ के वैराग्य का प्रसंग अत्यधिक हृदयद्रावक है जिसका चित्रण काव्यों, गीतों एवं चित्रों में बहुलता से हुआ है। राजुल के विरहगीत जैन कवियों का मुख्य गेय रहा है। नेमि-विवाह और राजुल-बारहमासा के रूप में अनेक काव्य व गीत पाये जाते हैं। यह दृश्य अत्यन्त नाटकीय होने से इसका भावनापूर्ण रंगमंचीय अभिनय भी खूब हुआ है। घटना इस प्रकार है :-

नेमिकुमार की सगाई गिरनार गिरि के समीपस्थ प्रसिद्ध नगर जूनागढ़ की राजकुमारी राजमती (राजुल) से हुई थी। उनके विवाह की दोनों ही ओर उनके विशाल वैभव के अनुरूप तैयारियाँ हुईं। उत्सव चरम बिन्दु पर था। बड़ी धूमधाम के साथ बरात जूनागढ़ के निकट पहुँची। जूनागढ़ के राजमहल में बरात की बड़ी उत्कंठा से प्रतीक्षा की जा रही थी। तोरण की समस्त तैयारियाँ हो गई थीं। चारों ओर हर्ष का वातावरण था। सखियों के मध्य उनकी प्रसंगानुकूल स्वाभाविक छेड़छाड़ में भी, ऊपर से गंभीर किन्तु अन्तर में द्रवित राजुल भी, बड़ी उत्सुकता से बरात-आगमन की प्रतीक्षा में थी। नेमिकुमार के शुभ संयोग की सुखद कल्पनाओं में मग्न राजुल सब कुछ भूल रही थी।

तभी शान्त सागर में प्रलयंकारी तूफान के समान यह समाचार आया कि वध हेतु प्रतिबंधित पशुओं की मूक पुकार से द्रवित हो नेमिकुमार के अतिसूक्ष्म राग-तन्तु भी टूट गये हैं। वे वैरागी हो गये हैं। उन्होंने शादी नहीं करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है। वे कंगन को तोड़कर गिरनार की ओर चल पड़े हैं। उनका राग विराग में बदल गया है। माता-पिता, धन-धान्य, राज्यादि समस्त बाह्य परिग्रह एवं राग-द्वेषादि अंतरंग परिग्रह का पूर्णतः त्यागकर वे नग्न दिगम्बर साधु हो गये हैं।

क्षण भर में ही यह समाचार सर्वत्र फैल गया। नेमिकुमार को लौटाने के अनेक प्रयत्न किये गये, पर सब व्यर्थ ही रहे। लोकान्तिक देवों ने आकर उनके मंगलमय कार्य की सराहनापूर्ण अनुमोदना की। सभी नागरिकों एवं देवों ने आकर सोत्साह दीक्षा-कल्याणक का उत्सव किया। समस्त वातावरण ही बदल गया। रागमय वैवाहिक वातावरण वैराग्यमय हो गया।

राजुल का मन भी बदल गया। उसने भी आत्म-साधना का मार्ग अपनाया। वह भी उन्हीं के पग-चिन्हों पर गिरनार की ओर बढ़ गई। सारा नगर ठगा-सा देखता रह गया। बराती बधू लेने आये थे, वर खोकर चले गये। राजा उग्रसेन अपनी प्रिय राजदुलारी को पालकी में बिठाकर राजमहलों में भारी दान-दहेज के साथ भेजना चाहते थे, पर सब पड़ा रहा, वह तो सफेद साड़ी में गिरनार की ओर बढ़ गई। उन्होंने अपने जामाता को देने के लिए अनेक बेशकीमती वस्त्राभूषण तैयार कराये थे, किन्तु वे तो तन के भी वस्त्र त्यागकर नग्न हो गिरनार गिरि की उत्तुंग शिखर पर जा विराजे। वे राजुल को वरने आये थे, पर मुक्ति-वधू को वरने चले गये।

नेमि-राजुल के उक्त जीवन प्रसंग को जैन कवियों ने अत्यन्त ललित एवं भावुक रूप में चित्रित किया है। प्राचीन शिल्प और चित्रकला में भी इसका अंकन हुआ है। राजुल का यह प्रसंग भारतीय कथानकों के वियोग प्रसंगों में अनूठा है। यह संयोग-विरहित वियोग है। संयोग की सुखद कल्पना के अतिरिक्त राजुल ने और पाया ही क्या था?

यशोधरा को बुद्ध का कुछ काल समागम तो प्राप्त हुआ था, आश्रय को एक पुत्र था, बुद्ध के लौटने की आशा थी। सीता को भी राम का सुखद साहचर्य मिला था, भविष्य में भी आशा थी – यद्यपि परिस्थितियाँ प्रतिकूल थीं तथापि राम का मन तो नहीं बदला था, अतः आशा को स्थान था। राधा भी पूर्ण निराश न थी। पर राजुल तो बिना कुछ पाये ही लुट गई, उसके पास तो याद करने को भी कुछ नहीं रहा। उसके आधार नेमिकुमार का तो मन ही बदल गया है। आशा की कल्पना भी संभव नहीं है। पाकर तो सब लुटते हैं, पर वह तो बिना पाये ही लुट गई। उसकी करुण गाथा तो अतुलनीय है। उसके चित्रण को कोई 'भवभूति'[1] चाहिए।

मुनिराज नेमिनाथ आत्मज्ञानी तो पहिले से थे ही, आत्मस्थिरता रूप चारित्र की श्रेणियों में बढ़ते हुए, दीक्षा के ५६ दिन वाद ही आत्म-साधना की चरम परिणति क्षपक-श्रेणी का आरोहण कर, केवलज्ञान प्राप्त करके भगवान नेमिनाथ बने और सातसौ वर्ष तक सम्पूर्ण भारतवर्ष को सन्मार्ग दिखाते रहे। अन्त में उन्होंने गिरनार पर्वत से ही एक हजार वर्ष की आयु पूर्णकर मुक्ति प्राप्त की।

यही कारण है कि गिरनार सिद्धक्षेत्र कहलाता है। यह जैनियों का एक बहुत बड़ा तीर्थस्थान है। यह पावन तीर्थ-स्थल गुजरात राज्य में जूनागढ़ के निकट है। अजैन बंधु भी इस तीर्थ-स्थल को परम पवित्र मानते हैं। यह नेमिनाथ की निर्वाण-भूमि ही नहीं, तपोभूमि भी है। राजुल ने भी यहीं साधना की थी। श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्नकुमार और शम्भूकुमार भी यहीं से मोक्ष गये हैं। प्रद्युम्नकुमार कामदेव थे।

---

[1] संस्कृत साहित्य के इतिहास में एक भवभूति नामक महाकवि हुए हैं, जिन्हें करुण रस का सर्वश्रेष्ठ कवि माना जाता है। उनका 'उत्तर रामचरित' नामक प्रसिद्ध संस्कृत नाटक है, जिसमें उक्त रस का परिपाक अपने ढंग का अनूठा है।

पार्श्वनाथ

तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ निर्वैरवृत्ति के सर्वोत्तम प्रतीक हैं। उनके पूर्व-जन्मों की कथा में उनसे इकतरफा बैर रखने वाले कमठ की क्रूरता एवं उसके प्रति पार्श्वनाथ की निर्वैर परिणति अपने आप में अहिंसा की चरम उपलब्धि है।

आज से करीब तीन हजार वर्ष पूर्व इक्ष्वाकु वंश के काश्यप-गोत्रीय वाराणसी नरेश अश्वसेन के यहाँ उनकी विदुषी पत्नी वामादेवी के उदर से पौष कृष्णा एकादशी के दिन एक महान् तेजस्वी अपूर्व बालक का जन्म हुआ – जिसका नाम रखा गया था पार्श्वकुमार। बालक पार्श्वकुमार जन्म से ही प्रतिभाशाली, चमत्कृत बुद्धिनिधान, अनेक सुलक्षणों के धनी एवं विरक्त बालक थे। यद्यपि उन्हें भोग-सामग्री की कोई कमी न थी, तथापि उसके लिए उनके हृदय में कोई स्थान न था। वैभव की छाया में पलने पर भी जल में रहने वाले कमल के समान वे उससे अलिप्त ही थे। युवा होने पर माता-पिता ने बहुत प्रयत्न किये, पर उन्हें विवाह करने को राजी न कर सके।

वे आत्मज्ञानी तो जन्म से थे ही, उनका मन भी सदा संसार से उदास रहता था। एक दिन प्रातःकाल वे अपने साथियों के साथ घूमने जा रहे थे। रास्ते में वे देखते हैं कि उनके नाना साधुवेश में पंचाग्नि-तप तप रहे हैं। जलती हुई अग्नि के बीच एक नाग-नागिनी का जोड़ा था, वह भी जल रहा था। पार्श्वकुमार ने अपने दिव्यज्ञान (अवधिज्ञान) से यह सब जान लिया और उन्हें इस प्रकार के काम करने से मना किया, पर जब तक उस लकड़ी को फाड़कर नहीं देख लिया गया तब तक वे उनकी बात माने नहीं। लकड़ी फाड़ते ही उसमें से अधजले नाग-नागिनी निकले। पार्श्वकुमार ने उन नाग-नागिनी को संबोधित किया और वे मंदकषायपूर्वक मरकर धरणेन्द्र-पद्मावती हुए।

इस हृदय विदारक घटना से पार्श्वकुमार का कोमल हृदय वैराग्यमय हो गया और पौष कृष्णा एकादशी के दिन वे दिगम्बर साधु हो गये।

एक बार अखण्ड मौनव्रतधारी वे पार्श्व मुनिराज अहिक्षेत्र के वन में ध्यानस्थ थे। उसी समय उनके पूर्व जन्म का शत्रु संवर नामक देव (कमठ का जीव) आकाश मार्ग से जा रहा था। उन्हें देखकर उसका पूर्व वैर जागृत हो गया और उसने मुनिराज पार्श्वनाथ पर घोर उपसर्ग किया। पानी बरसाया, ओले बरसाये, भयंकर तूफान चलाया और पत्थर तक बरसाये, पर वह उन्हें आत्म-साधना से डिगा न सका।

जब संवर देव उन पर उपसर्ग कर रहा था तब धरणेन्द्र-पद्मावती ने उनके उपसर्ग को दूर करने का यत्न किया था। यद्यपि पार्श्वनाथ अपनी आत्म-साधना में पूर्ण सुरक्षित थे, उन्हें पर के सहयोग की रंचमात्र आवश्यकता एवं आकांक्षा नहीं थी और न ही किसी अन्य के सहयोग से उन्हें कोई लाभ ही हुआ; तथापि धरणेन्द्र-पद्मावती ने अपने विकल्पानुसार प्रयत्न किया था। उसी के प्रतीक स्वरूप भगवान पार्श्वनाथ की बहुत सी प्रतिमाओं में सर्प की फणावली बनी पाई जाती है। एक युग ऐसा आया कि जब इस प्रकार की बहुत सी मूर्तियाँ बनीं, पर वे बहुत प्राचीन नहीं हैं। शास्त्रीय दृष्टि से भी वे ठीक नहीं हैं क्योंकि मूर्ति अरहन्त अवस्था की मानी जाती है तथा अरहंत अवस्था में कोई उपसर्ग नहीं होता है, यह नियम है। उपसर्ग काल की मूर्ति मुनि पार्श्वनाथ की हो सकती है, भगवान पार्श्वनाथ की नहीं। इसी प्रकार बाहुबली की मूर्ति के संबंध में भी विचारणीय है। बेलों वाली मूर्ति मुनिराज बाहुबली की हो सकती है, अरहन्त भगवान बाहुबली की नहीं; किन्तु यह परम्परा चल पड़ी है और चल रही है। भारत भर में किसी भी मंदिर में फण वाली भगवान पार्श्वनाथ की एवं बेलों वाली बाहुबली की प्रतिमाएँ देखी जा सकती हैं।

मुनिराज पार्श्वनाथ को चैत्र कृष्णा चतुर्दशी के दिन आत्म-तल्लीनता की दशा में केवलज्ञान की प्राप्ति हुई और वे भगवान पार्श्वनाथ बन गये। इसके बाद लगभग सत्तर वर्ष तक भारतवर्ष में उनका समवशरण सहित विहार और उपदेश होता रहा। अन्त में उन्होंने सौ वर्ष की आयु पूर्ण कर सम्मेदशिखर से निर्वाण प्राप्त किया।

यही कारण है कि सम्मेदशिखर को 'पार्श्वनाथ हिल' कहा जाता है, रेल्वे स्टेशन का नाम भी पारसनाथ है। यह स्थान बिहार प्रान्त में हजारीबाग जिले में ईसरी के पास है। यह जैनियों का सबसे बड़ा तीर्थक्षेत्र है। यहाँ से चौबीस तीर्थंकरों में से बीस ने निर्वाण प्राप्त किया है। यहाँ लाखों यात्री प्रतिवर्ष यात्रा करने के लिए आते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान महावीर के पूर्व एक पूर्ण विकसित परम्परा विद्यमान थी। तीर्थंकर महावीर उसकी अंतिम कड़ी हैं, प्रारंभिक नहीं। इस अवसर्पिणी काल की धर्मरूपी मणि-हार की आदिनाथ (ऋषभदेव) प्रथम मणि हैं तो महावीर अंतिम, किन्तु आदिनाथ के पूर्व भी अनन्त तीर्थंकर हो चुके हैं और महावीर के बाद इसी भारत भूमि पर उत्सर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर महापद्म होने वाले हैं व तीर्थंकरों की यह परम्परा अनन्त काल तक चलने वाली है; अतः बौद्ध धर्म के संस्थापक बुद्ध के समान महावीर को जैन धर्म का संस्थापक मानना बहुत बड़ी भूल है।

भगवान महावीर ने धर्म की स्थापना नहीं की, उसका प्रचार व प्रसार किया है। उन्होंने धर्म का परिमार्जन (शुद्धिकरण) भी नहीं किया है। धर्म का कोई क्या परिमार्जन करेगा ? धर्म तो परिमार्जित ही होता है एवं विकारी आत्माओं का परिमार्जन करने वाला होता है। पर्यायदृष्टि से देखा जाय तो परिमार्जन ही धर्म है।

पूर्व भव

भगवान महावीर को समझने के लिए उनके मात्र वर्तमान भव (जन्म) को देखना पर्याप्त न होगा। उनको मात्र एक भव से समझना असंभव है क्योंकि उनके आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया अनेक भवों में सम्पन्न हुई है, एक भव में नहीं। तीर्थंकर और भगवान बनने की प्रक्रिया महावीर के चरित्र के आधार पर समझने के लिए उनके कई पिछले भवों को जानना होगा।

तीर्थंकर महावीर के पूर्व भवों का अध्ययन इस दृष्टि से भी उपयोगी होगा कि सामान्य आत्मा किस प्रकार परमात्मा बनता है तथा परमात्मा बनने की सम्यक् प्रक्रिया के न समझने के कारण वह किस प्रकार भवचक्र में घूमता रहता है, दुखी होता रहता है।

भगवान महावीर ने अपने पूर्व भवों की परम्परा में जहाँ एक ओर अनेक स्वर्गों के साथ-साथ नारायण (अर्द्धचक्री) और चक्रवर्ती के पद प्राप्त किये, वहीं अनेक बार नरकों में अनन्त दुःख भोगने के साथ ही तिर्यंच की अनेक त्रस-स्थावर योनियों में भी भ्रमण किया। उनके पूर्व भवों की संक्षिप्त जानकारी के लिए कतिपय मुख्य भवों का दिग्दर्शन अपेक्षित है।

तीर्थंकर भगवान महावीर के पूर्व भवों का वर्णन जैन पुराणों में इस प्रकार पाया जाता है :–

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तर किनारे पुष्कलावती देश में एक पुंडरीकिनी नाम की नगरी थी। उसके पास एक मधुक नामक वन था, जिसमें एक पुरुरवा नामक भीलों का राजा रहता था। उसकी पत्नी का नाम था कालिका।

उसी वन में एक सागरसेन नामक महान तपस्वी नग्न-दिगम्बर मुनिराज विचरण कर रहे थे। उनको भ्रमवश मृग समझकर मारने के लिए उस भीलराज ने ज्योंही धनुष पर बाण चढ़ाया, त्योंही उसकी पत्नी ने हाथ पकड़कर रोकते हुए मृदुल शब्दों में कहा कि क्या कर रहे हो? वह मृग नहीं, कोई वन-देवता विहार कर रहे हैं। मुनि हत्या के महादोष से बचकर वे दोनों पति-पत्नी मुनिराज के पास दर्शनार्थ गये। उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार किया। उनसे धर्म श्रवणकर मद्य-मांसादि का त्याग किया। जीवनपर्यन्त आदरसहित व्रतों का निर्वाह करते हुए मरकर वह भीलराज सौधर्म नामक प्रथम स्वर्ग में देव हुआ।

वहाँ से आकर वह प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के बड़े पुत्र चक्रवर्ती सम्राट भरत के यहाँ मारीचि नामक पुत्र हुआ। उसने अपने पितामह ऋषभदेव के साथ ही दिगम्बरी दीक्षा धारण की, किन्तु ऋषभदेव के साथ दीक्षित कच्छादि चार हजार राजाओं के समान मुनिमार्ग से अपरिचित होने से, वह भी भ्रष्ट होगया।

कच्छादि राजाओं की ऋषभदेव में पूर्णभक्ति थी, वे उनके अनुगमन पर ही दीक्षित हुए थे, उनके द्वारा मार्गदर्शन प्राप्त न हो पाने के कारण ही भ्रष्ट हुए थे; अतः जब तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की दिव्यध्वनि खिरने लगी, उपदेश होने लगा, तब उनमें से अधिकांश ने अपनी भूल सुधारकर, उनके द्वारा बताया सन्मार्ग ग्रहण कर लिया; किन्तु मारीचि ने स्वतंत्र मत स्थापित किया। वह पारिव्राजक का वेष धारणकर ऋषभदेव के समान मत-प्रवर्तक बनने का प्रयत्न करने लगा। यद्यपि उसने मिथ्यात्व नामक महापाप का सेवन, प्रचार व प्रसार कर अपना भवभ्रमण बढ़ाया तथापि शुभभावपूर्वक मरण कर वह ब्रह्म नामक पांचवें स्वर्ग में देव हुआ।

आयु की समाप्ति पर वहाँ से चयकर वह साकेतनगर में कपिल नामक ब्राह्मण के यहाँ जटिल नामक पुत्र हुआ। वहाँ भी पूर्व-संस्कारवश पारिव्राजक साधु हुआ और मरकर प्रथम स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ से आकर भारद्वाज ब्राह्मण के यहाँ पुष्यमित्र नामक पुत्र हुआ। वहाँ भी वही स्थिति रही और मरकर प्रथम स्वर्ग में देव हुआ।

उसके बाद क्रमशः अग्निसह ब्राह्मण, सनत्कुमार नामक तीसरे स्वर्ग का देव, अग्निमित्र ब्राह्मण, माहेन्द्र नामक चतुर्थ स्वर्ग का देव, भारद्वाज ब्राह्मण, चतुर्थ माहेन्द्र स्वर्ग का देव हुआ।

उक्त सभी भवों में उसकी पूर्ववत् स्थिति रही। मिथ्यात्व का सेवन व प्रसार करते हुए भी शुभभावों में रहा, अतः स्वर्गादिक की लौकिक अनुकूलता प्राप्त होती रही। मिथ्यात्व के सेवन में चिरकाल यह स्थिति भी नहीं रह सकती है, अतः इसके बाद मिथ्यात्व नामक महापाप के कारण वह त्रस-स्थावर की अनेक नीच योनियों में जा पड़ा और उसने त्रस-स्थावर की निम्नतम योनियों के असंख्य भव धारण किये। असंख्य बार जन्मा-मरा।

भाग्यवश वहाँ से उभरा और स्थावर नामक ब्राह्मण हो, शुभ-भावपूर्वक मरा तो माहेन्द्र नामक चतुर्थ स्वर्ग का देव हो गया।

वहाँ से चयकर वह राजगृह नगर में विश्वभूति नामक राजा के यहाँ विश्वनंदी नामक राजकुमार हुआ। राजा विश्वभूति के छोटे भाई का नाम विशाखभूति था और विशाखभूति के छोटे पुत्र का नाम विशाखनंद। शरद ऋतु के बादलों को नष्ट होते देखकर राजा विश्वभूति को वैराग्य हो गया और वे अपने छोटे भाई विशाखभूति को राजपद तथा पुत्र विश्वनंदी को युवराज पद देकर नग्न-दिगम्बर साधु हो गये।

युवराज विश्वनंदी के पास एक मनोहर नाम का मनोहर उद्यान था, जो उसे बहुत प्रिय था। एक दिन वह अपनी प्रियाओं के साथ उस उद्यान में क्रीड़ारत था। क्रीड़ारत विश्वनंदी को देख विशाखनंद उस उद्यान को पाने का अभिलाषी हो अपने पिता राजा विशाखभूति के पास गया। उसने पिता से कहा उक्त उद्यान मुझे दिलाइये अन्यथा मैं देश छोड़कर चला जाऊँगा।

यद्यपि विशाखभूति इसको रंचमात्र भी उचित नहीं मानता था तथापि पुत्र मोह इस प्राणी से क्या-क्या बुरे कार्य नहीं कराता है? कैकेई के पुत्र मोह ने ही तो राम जैसे योग्य व्यक्ति को बनवास दिलाया था। पुत्र के मोह में अन्ध राजा विशाखभूति ने विश्वनंदी को छल से पर्वतीय उपत्यका में रहने वाले राजाओं के उपद्रवों को

शान्त करने के बहाने युद्ध के लिए भेज दिया और मनोहर उद्यान को अपने पुत्र विशाखनंद को सौंप दिया।

जब पराक्रमी विश्वनंदी को यह पता चला तो उसे बहुत बुरा लगा। विशेषकर इस छल-प्रक्रिया पर वह क्रोधित हो उठा और विशाखनंद को पकड़ने के लिए ज्योंही दौड़ा त्योंही विशाखनंद भय से भागा और एक कैंथ के वृक्ष पर चढ़ गया। कुमार विश्वनंदी ने उस वृक्ष को ही उखाड़ डाला तो वह वहाँ से भागकर एक प्रस्तर स्तंभ (पत्थर का खंभा) के नीचे जा छिपा, पर विश्वनंदी ने उस स्तंभ को भी मुष्टिका प्रहार से चूर्ण कर डाला। किसी प्रकार हाथ-पैर जोड़कर विशाखनंद ने अपनी जान बचाई।

यद्यपि उसकी दीनता को देखकर विश्वनंदी ने उसे छोड़ दिया तथापि उक्त घटना ने उसके मानस को बदल डाला। उसका राग वैराग्य में बदल गया और वह सब घर-बार छोड़कर दिगम्बर साधु हो गया। राजा विशाखभूति अपने इस दुष्कर्म पर बहुत पछताया एवं परिणाम को देखकर दुःखी हुआ। वह भी संसार की असारता जान विरक्त हो गया। उसने भी दिगम्बरी दीक्षा धारण करली।

मुनिराज विश्वनंदी अन्तर्बाह्य घोर तपश्चरण करते हुए अत्यन्त कृष-काय हो गये। महातपस्वी वे मुनिराज एक बार मथुरा नगर में आहार के लिए गये। मार्ग में तत्काल प्रसूता गाय की ठोकर लगने से वे गिर गये। वहीं सामने एक वेश्या के मकान से उनका चचेरा भाई विशाखनंद उन्हें देख रहा था। विशाखनंद अपनी पुरुषार्थ-हीनता, अन्यायवृत्ति एवं कुकर्मों के कारण राजभ्रष्ट हो, अन्यत्र दूतकार्य करने लगा था और कार्यवश मथुरा आया हुआ था। उसने मुनिराज विश्वनंदी को पहचान लिया और उनका परिहास करते हुए व्यंग किया कि कहाँ गया तुम्हारा वह बल जिसने वृक्ष को उखाड़ डाला था एवं पत्थर की विशाल शिला को मुष्टिका प्रहार से ही तोड़ डाला था? मुनिराज का चित्त भी उसके व्यंग-बाणों को सह न सका, चलित हो गया। उन्होंने निदान किया उसके मानमर्दन का। अन्त में समाधिपूर्वक मरकर वे महाशुक्र नामक दसवें स्वर्ग में देव हुए।

वहाँ से आकर वे इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में पोदनपुर के राजा बाहुबली के वंश में उत्पन्न महाराजा प्रजापति की रानी मृगावती से महाप्रतापी त्रिपृष्ठ नामक पुत्र हुए, तथा उनके काका विशाखभूति का जीव उसी राजा प्रजापति की दूसरी रानी जयावती के उदर से विजय नामक पुत्र हुआ।

विजय प्रथम 'बलभद्र' थे और त्रिपृष्ठ प्रथम 'नारायण'। यह ग्यारहवें तीर्थंकर भगवान श्रेयांसनाथ का समय था। उस समय विजयार्द्ध पर्वत की उत्तरश्रेणी के अलकापुर नगर में मयूरग्रीव नामक विद्याधरों का राजा राज्य करता था। उसकी प्रिय पत्नी का नाम नीलांजना था। विशाखनन्द का जीव अपने पाप कर्मों के फलस्वरूप अनेक कुयोनियों में परिभ्रमण करता हुआ पुण्य-योग से उनके अश्वग्रीव नामक पराक्रमी पुत्र हुआ। वह प्रथम 'प्रतिनारायण' था। वह तीन खण्ड पृथ्वी को जीतकर 'अर्द्धचक्रवर्ती' हो गया था। त्रिपृष्ठ नारायण और अश्वग्रीव प्रतिनारायण में परस्पर भयंकर युद्ध हुआ था और निदान के अनुसार राजकुमार त्रिपृष्ठ अश्वग्रीव को मारकर अर्द्धचक्रवर्ती सम्राट हो गया।

सम्राट त्रिपृष्ठ विशाल विभूति का अधिपति था। उसके देवांगनाओं के समान सोलह हजार रानियाँ थीं। पूर्वपुण्य के प्रताप से सर्व प्रकार लौकिक अनुकूलता पाकर भी उसने आत्महितकारी धर्म की आराधना नहीं की। समस्त जीवन अनुशासन-प्रशासन, राज्यव्यवस्था और भोगों में ही गंवा दिया। अन्त में मरकर सातवें नरक का नारकी हुआ। भोगमय जीवन का परिणाम इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता था ?

वहाँ से निकलकर वह गंगा के किनारे सिंहगिरि नामक पर्वत पर अत्यन्त क्रूरपरिणामी सिंह हुआ। क्रूरता में ही जीवन बिताकर मरा और प्रथम नरक में नारकी हुआ। वहाँ से निकलकर पुनः हिमवान पर्वत के शिखर पर देदीप्यमान केसर से सुशोभित सिंह हुआ। यह अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर का पिछला दसवाँ भव था, जहाँ से उसका सुधार आरंभ होता है।

वह भयंकराकृति मृगराज अत्यन्त क्रूर एवम् महाप्रतापी था। एक बार वह पैनी दाढ़ों वाला विकराल मृगराज मृग को मारकर उसे विदारण कर खा रहा था। उसी समय दो अत्यन्त शान्त, परम दयावान, चारण ऋद्धिके धारी मुनिराज आकाश मार्ग से उतरे और मृगराज को मृदुवाणी में इस प्रकार संबोधित करने लगे :-

हे मृगराज ! आत्मा का अनादर कर तूने आज तक अनन्त दुःख उठाये हैं। क्षुद्र स्वार्थ के लिए जिस प्रकार तूने इस मृग को मार डाला है, उसी प्रकार पंचेन्द्रिय के भोगों की निराबाध प्राप्ति के लिए तूने अपने पूर्व भवों में बहुत हिंसा और क्रूरता की है। त्रिपृष्ठ नारायण के भव में तूने क्या-क्या भोग नहीं भोगे और क्या-क्या पाप नहीं किये ? पर भोगाकांक्षा तो समाप्त नहीं हुई। परिणामस्वरूप सातवें नरक में गया और भयंकर दुःख भोगे। वहाँ से निकलकर शेर हुआ, वहाँ भी यही हालत रही। विचार कर ! जरा तू अपने पूर्व भवों का विचार कर !!

मुनिराज के मृदुल संबोधन से उसका चित्त कुछ शान्त हुआ और उसने अन्तर में झांकने का प्रयत्न किया कि उसे जातिस्मरण हो गया। उसे अपने पूर्व भव याद आ गये, उसकी आँखों में चित्रपट की भांति सब दृश्य दिखाई देने लगे। उसका हृदय विगलित हो गया, उसकी आखों से आँसू बहने लगे, शरीर काँपने लगा।

उसकी आँखों में पवित्र भक्ति एवं सहज जिज्ञासा देख मुनिराज ने उसे पुरुरवा भील के भव से लेकर अभी तक का सारा वृत्तान्त कहा तथा बताया कि तूने मारीचि के भव में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव जैसा संयोग पाकर भी मिथ्यात्व का पोषण किया, आत्मा का सही स्वरूप न समझा, इस कारण तुझे इतना भव-भ्रमण करना पड़ा। त्रस-स्थावर योनियों में असंख्य भव धारण करने पड़े। किन्तु अब चिन्ता की बात नहीं है, तेरे संसार का अन्त आ गया है, तू अब से दसवें भव में इसी भरतक्षेत्र का अंतिम तीर्थंकर महावीर होने वाला है। यह सब हमने तीर्थंकर श्रीधर केवली भगवान की दिव्यध्वनि से सुना है।

यह सब सुनने पर थोड़ी देर बाद उसकी विह्वलता और वेग शान्त हुआ। आत्मा का अनुभव करने योग्य ज्ञान का विकास तो था ही, उसकी कषायें भी उपशान्त हुईं। आत्मस्वरूप को समझकर आत्मानुभूति प्राप्त करने की पात्रता उस मृगराज में मुनिराज ने स्पष्ट देखी तो उनके मुखारविन्द से इस प्रकार के आशय से युक्त देशना निःसरित हुई :-

देह में विराजमान, पर देह से भिन्न एक चेतन तत्त्व है। यद्यपि उस चेतन तत्त्व में मोह-राग-द्वेष की विकारी तरंगें उठती रहती हैं तथापि वह ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुवतत्त्व उनसे भिन्न परम पदार्थ है, जिसके आश्रय से धर्म प्रगट होता है। उस प्रगट होने वाले धर्म को सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र कहते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र दशा अन्तर में प्रगट हो, इसके लिए परम पदार्थ ज्ञानानन्द स्वभावी ध्रुवतत्त्व की अनुभूति अत्यन्त आवश्यक है। उस अनुभूति को ही आत्मानुभूति कहते हैं। वह आत्मानुभूति जिसे प्रगट हो गई, 'पर' से भिन्न चैतन्य आत्मा का ज्ञान जिसे हो गया, वह शीघ्र ही भव-भ्रमण से छूट जायेगा। 'पर' से भिन्न चैतन्य आत्मा का ज्ञान ही भेदज्ञान है। यह भेदज्ञान और आत्मानुभूति सिंह जैसी पर्याय में भी उत्पन्न हो सकती है और उत्पन्न होती भी है। अतः हे मृगराज ! तुझे इसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

हे मृगराज ! तू पर्याय की पामरता का विचार मत कर, स्वभाव के सामर्थ्य की ओर देख। तू भी सिद्ध के समान अनन्तज्ञानादि गुणों का पिण्ड है। ध्रुव स्वभाव के अवलम्बन से ही पर्याय में सामर्थ्य प्रगट होती है। इतना ज्ञान तेरी वर्तमान पर्याय में भी प्रगट है, जिससे तू चैतन्यतत्त्व का अनुभव कर सके। जैसे सिंह-शावक अपनी माँ सिंहनी को हजारों के बीच पहिचान लेता है, भले ही वह अपनी माँ को किसी नाम या गाँव से न जानता हो, गोरे-काले में न जानता हो, पर उसे जानता अवश्य है; वैसे ही भले ही तत्त्वों के नाम न जान पावे, तो भी 'पर' से भिन्न आत्मा को पहिचान सकता है। इस समय तेरे परिणामों में भी विशुद्धि है। तू अन्तरोन्मुखी होकर

आत्मा के अनुभव का अपूर्व पुरुषार्थ कर, तुझे अवश्य ही आत्मानुभूति प्राप्त होगी। तेरी काललब्धि आ चुकी है, तेरा भला होनहार हमें स्पष्ट दिखाई दे रहा है, तुझमें सर्व प्रकार पात्रता प्रगट हुई प्रतीत हो रही है। तू एक बार रंग-राग और भेद से भिन्न आत्मा का अनुभव करने का अपूर्व पुरुषार्थ कर........कर........कर........!

मुनिराज के मुख से अत्यन्त प्रेरणाप्रद वाणी प्रसारित हो रही थी और वहाँ देखते हैं तो मृगराज अन्तर्मुख हो आत्मस्थ हो गया था। अब वह पूर्ण स्वस्थ (आत्मस्थ) था, वह अपने में समा गया था, उसने अपूर्व आनन्द और शान्ति का वेदन किया था, वह उसमें मग्न हो गया था, उसमें ही जम गया था, उसमें ही रम गया था।

कुछ देर बाद जब वह अन्दर से बाहर आया तो मुनिराज उसी अभय मुद्रा में खड़े थे, उनके चेहरे पर अपूर्व शान्ति थी। मुनिराज भी मृगराज के चेहरे पर अपूर्वता का अनुभव कर रहे थे। उन्हें लग रहा था कि जो पाने योग्य है, वह मृगराज ने पा लिया है। मृगराज मुनिराज के चरणों में झुक गया, कुछ देर तक झुका ही रहा, फिर उठा तो उनकी तीन प्रदक्षिणा दीं एवं अत्यन्त भक्तिभाव से उनके चरणों में नम्र हो गया। मुनिराज ने उसमें पात्रता का विकास देखा तो उसे व्रत धारण करने का उपदेश दिया और उसने अपनी योग्यतानुसार व्रत अंगीकार किये। अब वह क्रूर मृगराज न रह गया था, पूर्ण अहिंसक चित्राम जैसा मृगराज हो गया था।

उस मृगराज ने जीवन-पर्यन्त ग्रहीत व्रतों का आदरपूर्वक पालन किया। अन्त में समाधिमरणपूर्वक मृत्यु को प्राप्त हुआ तो सौधर्म नामक प्रथम स्वर्ग में सिंहकेतु नामक देव हुआ।

पर्याय की योग्यता का परिपाक एवं काललब्धि की प्राप्ति के साथ अनुकूल निमित्त के सहचर का ऐसा उदाहरण अन्यत्र देखने को प्राप्त नहीं होगा। ऊपर से देखने पर यहाँ ऐसा लगता है कि चारण ऋद्धिधारी मुनिराजों के उपदेश से शेर को सद्धर्म की प्राप्ति हो गई किन्तु काललब्धि का परिपाक, भली होनहार, प्रतिबंधक कर्म का आवश्यकतानुसार अभाव तथा शेर द्वारा किये गये अन्तरोन्मुखीवृत्ति

के अपूर्व पुरुषार्थ की ओर सहज ध्यान नहीं जाता। मात्र उपदेश से ही सब कुछ हो जाता हो तो तीर्थंकर भगवान के समवशरण में उपदेश तो बहुत जीव सुनते हैं, सबका हित क्यों नहीं हो जाता, सबको सद्धर्म की प्राप्ति क्यों नहीं हो जाती ? भगवान महावीर के जीव का हित मारीचि के भव में क्यों नहीं हो गया ? क्या वहाँ सद्‌निमित्तों की कमी थी ? पिता चक्रवर्ती सम्राट भरत, धर्मचक्र के आदि प्रवर्त्तक भगवान ऋषभदेव बाबा और उनके साथ ही दीक्षा ग्रहण करने का भाव। भगवान ऋषभदेव के समवशरण में उनका उपदेश सुनकर तो उसने विरोध भाव उत्पन्न किया था। क्या उनके उपदेश में कोई कमी थी ? क्या चारण ऋद्धिधारी मुनियों का उपदेश उनसे भी अच्छा था ? इससे सिद्ध होता है कि जब उपादान की तैयारी हो तब कार्य होता ही है, और उस समय योग्य निमित्त भी होता ही है, उसे खोजने कहीं नहीं जाना पड़ता है। क्रूर शेर की पर्याय में घोर वन में उपदेश प्राप्ति की संभावना और अवसर कहाँ था ? पर सिंह की पर्याय में उसका पुरुषार्थ जागा तो निमित्त आकाश से उतरकर आये।

अतः आत्मार्थी को निमित्तों की खोज में व्यग्र नहीं होना चाहिए। निमित्तों से कार्य नहीं होता, निमित्तों के बिना कार्य रुकता भी नहीं; पर स्थिति यह है कि जब कार्य होता है तब निमित्त भी सहजपने होता ही है। अज्ञानी जीवों की दृष्टि निमित्ताधीन होने से निरन्तर निमित्तों के जुटाने-हटाने के असफल प्रयासों में ही लगी रहती है।

वस्तुतः निमित्तों के अनुसार कार्य नहीं होता, कार्य के अनुसार निमित्त कहा जाता है। जब सिंह की पर्याय में सद्धर्म की प्राप्ति हुई तो मुनिराजों को निमित्त कहा गया और मारीचि के भव में नहीं हुई तो ऋषभदेव को निमित्त नहीं कहा गया। यदि यहाँ भी न होती तो मुनिराजों का उपदेश भी निमित्त नहीं कहा जाता। निमित्त के प्रति बहुमान भी तभी आता है जब कार्य सम्पन्न हो जावे। शेर की पर्याय में जब सद्धर्म की प्राप्ति हुई तो मुनिराजों के प्रति सहज भक्ति जगी, किन्तु मारीचि के भव में सद्धर्म की उपलब्धि नहीं हुई तो भगवान ऋषभदेव के प्रति भक्ति-भाव नहीं उमड़ा।

निमित्त से कार्य नहीं होता, निमित्त पर तो कार्य होने का आरोप किया जाता है। कैसी विचित्र विडम्बना है कि एक ही जीव के मारीचि के भव में आदिनाथ जैसा उत्कृष्ट सद्धर्म प्रवक्ता द्वेष का निमित्त बना और सिंह की पर्याय में मुनिराज तत्त्व प्राप्ति के निमित्त बने। इससे उपादानगत पर्याय की योग्यता के समक्ष निमित्त की गौणता स्वतः सिद्ध है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि मारीचि के भव में अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ का अभाव, पर्यायगत अयोग्यता, काललब्धि की अप्राप्ति एवं मिथ्यात्वकर्म का प्रवल उदय भवभ्रमण के कारण रहे। इसी प्रकार सिंह की पर्याय में आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ, पर्याय की उपादानगत योग्यता, काललब्धि की प्राप्ति, मिथ्यात्वादि कर्मों का योग्यतानुसार अभाव सद्धर्म प्राप्ति रूप कार्य के नियामक रहे, न कि मात्र उपदेश। उपदेश का उसमें अपना स्थान है, पर तदनुसार ही।

यद्यपि कार्य की सिद्धि में पांचों समवायों का होना आवश्यक है, तथापि पुरुषार्थ का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। सद्धर्म की प्राप्ति में पुरुषार्थ की मुख्यता आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी ने इस प्रकार प्रतिपादित की है :-

"जो जीव पुरुषार्थ से जिनेश्वर के उपदेशानुसार मोक्ष का उपाय करता है उसके काललब्धि व होनहार भी हुए और कर्म के उपशमादि हुए हैं तो वह ऐसा उपाय करता है; इसलिए जो पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय करता है उसको सर्व कारण मिलते हैं ऐसा निश्चय करना, और उसको अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है। तथा जो जीव पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय नहीं करता, उसके काललब्धि व होनहार भी नहीं और कर्म के उपशमादि नहीं हुए हैं तो यह उपाय नहीं करता; इसलिए जो पुरुषार्थ मोक्ष का उपाय नहीं करता, उसको कोई कारण नहीं मिलते - ऐसा निश्चय करना, और उसकी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। तथा तू कहता है - उपदेश तो सभी सुनते हैं, कोई मोक्ष का उपाय कर सकता है कोई नहीं कर सकता, सो कारण क्या ?' उसका कारण यही है कि जो उपदेश सुनकर पुरुषार्थ करते हैं, वे तो मोक्ष

का उपाय कर सकते हैं, और ज़ो पुरुषार्थ नहीं करते वे मोक्ष का उपाय नहीं कर सकते । उपदेश तो शिक्षामात्र है, फल जैसा पुरुषार्थ करे वैसा लगता है[1] ।"

उसके बाद वह क्रमश: कनकोज्वल राजा, लान्तव नामक सातवें स्वर्ग का देव, हरिषेण नामक राजा और दसवें स्वर्ग का देव हुआ ।

धातकीखण्ड द्वीप के पूर्व मंदराचल के पूर्वविदेह क्षेत्र में एक पुष्कलावती नामक देश था । उसमें एक पुण्डरीकिनी नामक सुन्दर नगरी थी । दसवें स्वर्ग से चयकर वह इसी पुण्डरीकिणी नगरी के राजा सुमित्र की रानी सुव्रता के उदर से महाप्रतापी प्रियमित्र नामक पुत्र हुआ । महान पराक्रमी राजकुमार प्रियमित्र को पूर्व पुण्योदय से चक्ररत्न की प्राप्ति हुई और उसने छह खण्ड पृथ्वी को जीतकर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया ।

बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं के अधिपति सम्राट प्रियमित्र को नव निधियाँ और चौदह रत्न प्राप्त थे । छयानवें करोड़ गाँवों के अधिपति चक्रवर्ती सम्राट प्रियमित्र की सेवा में अठारह करोड़ घोड़े, चौरासी लाख हाथी और एक से एक सुन्दर छयानवें हजार पत्नियाँ थीं । पुण्योदय से प्राप्त अतुल भोग-सम्पदा के बीच रहते हुए चिरकाल बीत गया, पर जाता हुआ समय प्रतीत नहीं हुआ । एक दिन वह चक्रवर्ती सम्राट अपने प्रिय परिवारजनों के साथ क्षेमंकर जिनेश्वर की वन्दना के लिए गया । उनकी भक्तिपूर्वक वंदना स्तुति कर अपने योग्य स्थान पर जा बैठा । जिनेश्वर की दिव्य-ध्वनि में धारा प्रवाह वस्तुस्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित हो रहा था :-

वस्तु का स्वभाव ही धर्म है । आत्मा का स्वभाव ज्ञान और आनन्द है । इस ज्ञानानन्द-स्वभावी आत्मा के आश्रय से जो पर्याय प्रगट होती है, उसे धर्म कहा जाता है; वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय होता है । सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता ही मुक्ति का मार्ग है । मुक्ति माने दु:खों से मुक्ति, मोह-राग-द्वेष रूप विकारों से मुक्ति । यदि दु:खों से मुक्त होना है तो अपने को जानना होगा, पहिचानना

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ३११

होगा, और अपने में ही समा जाना होगा, लीन हो जाना होगा। जब तक यह आत्मा अपने को जानता नहीं, पहिचानता नहीं, तब तक पर में ही आत्मबुद्धि करता हुआ मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भावों रूप परिणमित होता है।

मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भाव ही संसार हैं, संसार के कारण हैं, दुःख स्वरूप हैं, दुःख के कारण हैं; और त्रिकाली ध्रुव तत्त्व आत्मा सुख स्वरूप और सुख का कारण है। पर में और पर्याय में एकत्वबुद्धि ही संसार है, दुःख है। पर और विकारी-अविकारी पर्यायों से भिन्न ज्ञानानन्द-स्वभावी चैतन्यध्रुव तत्त्व ही आश्रय करने योग्य परम पदार्थ है। वह स्वयं धर्म स्वरूप है, उसके आश्रय से ही पर्याय में धर्म प्रगट होता है।

अतः सुखाभिलाषी को, आत्मार्थी को, मुमुक्षु को अपने को पहिचानना चाहिए, अपने में जम जाना चाहिए, रम जाना चाहिए। सुख पाने के लिए अन्यत्र भटकना आवश्यक नहीं। अपना सुख अपने में है, पर में नहीं, परमेश्वर में भी नहीं; अतः सुखार्थी का परमेश्वर की ओर भी किसी आशा-आकांक्षा से झांकना निरर्थक है। तेरा प्रभु तू स्वयं है। तू स्वयं ही अनन्त सुख का भंडार है, सुख स्वरूप है, सुख ही है। सुख को क्या चाहना? चाह ही दुख है। पंचेन्द्रिय के विषयों में सुख है ही नहीं। चक्रवर्ती की संपदा पाकर भी यह जीव सुखी नहीं हो पाया। ज्ञानी जीवों की दृष्टि में चक्रवर्ती की सम्पत्ति की कोई कीमत नहीं है, वे उसे जीर्ण तृण के समान त्याग देते हैं और अन्तर में समा जाते हैं। अन्तर में जो अनन्त आनन्दमय महिमावंत पदार्थ विद्यमान है, उसके सामने बाह्य विभूति की कोई महिमा नहीं।

धर्म परिभाषा नहीं, प्रयोग है। अतः आत्मार्थी को धर्म को शब्दों में रटने के बजाय जीवन में उतारना चाहिए, धर्ममय हो जाना चाहिए।

जिनेन्द्र भगवान की सहज वैराग्योत्पादक एवं अन्तरोन्मुखी वृत्ति की प्रेरणा देने वाली दिव्य वाणी को सुनकर चक्रवर्ती प्रियमित्र का वैराग्य इस प्रकार जाग गया जिस प्रकार एक शेर की गर्जना सुनकर

दूसरा शेर जाग जाता है। राज्य-सम्पदा, स्त्री-पुत्रादि सम्बन्धी राग टूट गया। जिस धरती को वर्षों में दिग्विजय करके प्राप्त की थी, जिन पत्नियों का अनुरागपूर्वक पाणिग्रहण किया था; उन्हें ऐसे छोड़ दिया मानो उनसे उनका कोई संबंध ही न था, वे उनकी कोई थीं ही नहीं। जिस राग ने जमीन को जीता था, जिस राग ने राजकन्याओं को परणा था, जब वह राग ही न रहा, संयोजक ही न रहा, तो संयोग कैसे रहता ?

वह चक्रवर्ती सम्राट जिनेन्द्र भगवान की साक्षी में दीक्षित हो नग्न-दिगम्बर हो गया। रत्नत्रय को पाया तो चौदह रत्न छूट गये, अन्तरलीनता रूप चारित्र-निधि प्रगटी, फिर जड़निधियों से प्रयोजन न रहा। छह खण्ड की विभूति को तृण समान त्याग देने वाले मुनिराज ने जब समाधिपूर्वक देह छोड़ी तो सहस्रार नामक बारहवें स्वर्ग में सूर्यप्रभ नामक ऋद्धिधारी देव हुए। वहाँ से आकर जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में छत्रपुर नगर के राजा नन्दिवर्धन की वीरमती नामक रानी से नन्द नामक पुत्र हुए।

पूर्वसंस्कारवश जन्म से ही वैराग्यवृत्ति धारण करने वाला राजा नन्द एक दिन प्रोष्ठिल नामक मुनिराज के पास दर्शनार्थ गया और जिस प्रकार स्वयं प्रज्वलित अग्नि घी पड़ जाने पर और अधिक वेग से प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार वैराग्यप्रकृति राजा नन्द का वैराग्य मुनिराज के वैराग्योत्पादक उपदेश से और भी बढ़ गया और उसने उन्हीं मुनिराज से दीक्षा धारण कर ली।

निरन्तर आत्मध्यान और तत्त्वाभ्यास में ही लगे रहने वाले मुनिराज नन्द ग्यारह अंगों के पारगामी विद्वान् हो गये। जगत का उद्धार करने में सर्वोत्कृष्ट निमित्तभूत तीर्थंकर प्रकृति नामक महापुण्य को बंध करने में कारणरूप सोलह कारण भावनाओं का चिंतवन उन्हें सहज ही होने लगा और उन्होंने इसी भव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया जिसके परिणामस्वरूप ही वे आगे जाकर अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर हुए। अन्त में समाधि की दशा में मरण को प्राप्त होकर वे मुनिराज नन्द सोलहवें स्वर्ग में देव हुए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तीर्थंकर भगवान महावीर ने अपने पूर्व भवों में अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं। जहाँ एक ओर पुण्य के परम-प्रकर्ष को पाकर नारायण, चक्रवर्ती जैसे पदों को प्राप्त किया और कई बार स्वर्ग-संपदायें भोगीं वहाँ दूसरी ओर पाप की प्रकर्षता में सप्तम नरक में दुःख भी भोगे, पर पुण्य-पाप दोनों में ही कहीं शान्ति का अनुभव नहीं हुआ, संसार परिभ्रमण ही हुआ।

शुभाशुभ भावरूप पुण्य-पाप का फल चतुर्गति भ्रमण ही है। शुभाशुभ भाव के अभावरूप जो वीतराग भाव है, वही धर्म है; वही सुख का कारण है। वीतराग भाव की उत्पत्ति आत्मानुभूतिपूर्वक होती है। जब शेर की पर्याय में आत्मानुभूति प्राप्त की तभी वे संसार के किनारे लगे। अतः प्रत्येक आत्मार्थी को वीतराग भाव की प्राप्ति के लिए आत्मानुभूति अवश्य प्राप्त करना चाहिए। यही एक मात्र सार है।

तीर्थंकर भगवान महावीर के पूर्व भवों की चर्चा से जैन दर्शन की यह विशेषता विशेष रूप से उजागर होती है कि जैन दर्शन का मार्ग नर से नारायण बनने तक का ही नहीं, आत्मा से परमात्मा बनने का – शेर से भगवान बनने का है। पूर्व भवों की चर्चा हमें आश्वस्त करती है कि अपनी वर्तमान दशा मात्र को देखकर किसी भी प्रकार घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है। जब भगवान महावीर की आत्मा शेर जैसी पर्याय में भी आत्मानुभूति प्राप्त कर सकती है तो हम तो मनुष्य हैं, हमें आत्मानुभूति क्यों प्राप्त नहीं हो सकती? आत्मानुभूति प्राप्त कर शेर भी भगवान बन गया, चाहे दस भव बाद ही सही; तो हम क्यों नहीं बन सकते? यदि इसमें दस-पांच भव भी लग जाएँ तो कोई बात नहीं। इस अनादि-अनन्त संसार में दस-पांच भव क्या कीमत रखते हैं?

यह बात भी स्वयं समाप्त हो जाती है कि पंचमकाल में तो मुक्ति होती ही नहीं, अतः अभी तो शुभभाव करके स्वर्गादि प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। भले ही मुक्ति इस काल में, इस भव में न हो, पर शेर के समान आत्मानुभूति प्राप्त कर उसका सिलसिला आरंभ तो होना ही चाहिए।

वर्तमान भव

भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त जितने गूढ़, गंभीर व ग्राह्य हैं; उनका वर्तमान जीवन (भव) उतना ही सादा, सरल एवं सपाट है, उसमें विविधताओं को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। उनका वर्तमान जीवन घटना-बहुल नहीं है? घटनाओं में उनके व्यक्तित्व को खोजना भी व्यर्थ है। ऐसी कौनसी लौकिक घटना शेष है जो उनके अनन्त पूर्व भवों में उनके साथ न घटी हो?

घटना समग्र जीवन के एक खण्ड पर प्रकाश डालती है। घटनाओं में जीवन को देखना उसे खण्डों में बांटना है। भगवान महावीर का व्यक्तित्व अखण्ड है, अविभाज्य है; उसका विभाजन संभव नहीं है। उनके व्यक्तित्व को घटनाओं में बांटना, उनके व्यक्तित्व को खंडित करना है। अखण्डित दर्पण में बिम्ब अखण्ड और विशाल प्रतिबिम्बित होते हैं किन्तु कांच के टूट जाने पर प्रतिबिम्ब भी अनेक और क्षुद्र हो जाते हैं। उनकी एकता और विशालता खण्डित हो जाती है। वे अपना वास्तविक अर्थ खो देते हैं। भगवान महावीर के आकाशवत् विशाल और सागर से गंभीर व्यक्तित्व को बालक वर्द्धमान की बाल-सुलभ क्रीड़ाओं से जोड़ने पर उनकी गरिमा बढ़ती नहीं, वरन खंडित होती है।

वे धर्मक्षेत्र के वीर, अतिवीर और महावीर थे; युद्धक्षेत्र के नहीं। युद्धक्षेत्र और धर्मक्षेत्र में बहुत बड़ा अन्तर है। युद्धक्षेत्र में शत्रु का नाश किया जाता है और धर्मक्षेत्र में शत्रुता का, युद्धक्षेत्र में पर को जीता जाता है और धर्मक्षेत्र में स्वयं को। युद्धक्षेत्र में पर को मारा जाता है और धर्मक्षेत्र में अपने विकारों को।

महावीर की वीरता में दौड़-धूप नहीं, उछलकूद नहीं, मारकाट नहीं, हाहाकार नहीं; अनन्त शान्ति है। उनके व्यक्तित्व में वैभव की नहीं, वीतराग-विज्ञान की विराटता है।

यद्यपि संक्षेप में उनकी जीवन-गाथा मात्र इतनी ही है कि वे आरंभ के तीस वर्षों में वैभव और विलास के बीच जल से भिन्न कमलवत् रहे, बीच के बारह वर्षों में जंगल में परम मंगल की साधना में एकान्त आत्माराधना-रत रहे और अंतिम तीस वर्षों में प्राणिमात्र के कल्याण के लिए सर्वोदय धर्मतीर्थ का प्रवर्तन, प्रचार व प्रसार करते रहे; तथापि उनकी जीवन-रेखा पुराणों और इतिहास में सब कुछ मिलाकर इस प्रकार मिलती है :–

आज से लगभग २५७२ वर्ष पूर्व इसी भारतवर्ष में धन-धान्य से परिपूर्ण विशाल 'वैशाली' नगरी गणतन्त्र शासन की केन्द्र बनी हुई थी। अपने यात्रा विवरणों में चीनी यात्री ह्यून्सांग ने वैशाली को कई मीलों में फैली हुई बड़ी सुन्दर नगरी स्वीकार किया है[1]। गणतंत्र के अध्यक्ष थे राजा चेटक। उसी के अन्तर्गत कुण्डलपुर (कुण्डग्राम) नामक अत्यन्त मनोहर नगर था। प्रसिद्ध राजनेता लिच्छवि राजा सिद्धार्थ उसके सुयोग्य शासक थे। राजा सिद्धार्थ की पत्नी का नाम त्रिशला था। राजा सिद्धार्थ को अत्यन्त प्रिय होने के कारण उन्हें प्रियकारिणी भी कहा जाता था। सिद्धार्थ को ही क्या, वे सब को प्रिय थीं, सब उन्हें प्रिय थे। वे स्वभाव से कोमल, वाणी से मृदु और हृदय से उदार थीं। सबके चित्त को हरण करने वाली महारानी प्रियकारिणी त्रिशला गणनायक महाराजा चेटक की सबसे बड़ी पुत्री थीं। राजा सिद्धार्थ का वैशाली गणतन्त्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। लिच्छवियों के नवगणों में एक नाथ (ज्ञातृ) वंश भी था। राजा सिद्धार्थ इसी नाथवंश के प्रसिद्ध क्षत्रिय राजा थे।

एक समय रात्रि में प्रियकारिणी त्रिशला जब कुण्डलपुर के प्रसिद्ध राजभवन नंद्यावर्त में आनंद से शान्तचित्त सो रही थीं, तब रात्रि के पिछले प्रहर में उन्होंने सुन्दर सोलह स्वप्न देखे। जो इस प्रकार हैं :–

---

[1] ह्यून्सांग का भारत-भ्रमण, पृष्ठ ३६२–३६५

(१) मदोन्मत्त गज (२) ऊँचे कंधों वाला शुभ्र बैल (३) गर्जता सिंह (४) कमल के सिंहासन पर बैठी लक्ष्मी (५) दो सुगन्धित मालायें (६) नक्षत्रों की सभा में बैठा चंद्र (७) उगता हुआ सूर्य (८) कमल के पत्तों से ढंके दो स्वर्ण-कलश (९) जलाशय में क्रीड़ारत मीन-युगल (१०) स्वच्छ जल से भरपूर जलाशय (११) गंभीर घोष करता सागर (१२) मणि-जड़ित सिंहासन (१३) रत्नों से प्रकाशित देव-विमान (१४) धरणेन्द्र का गगनचुम्बी विशाल भवन (१५) रत्नों की राशि और (१६) निर्धूम अग्नि।

प्रातःकालीन क्रियाओं से निवृत्त होकर माँ त्रिशला ने राजा सिद्धार्थ को जब उक्त स्वप्न-प्रसंग सुनाया और उनका फल जानना चाहा तब निमित्त-शास्त्र के वेत्ता राजा सिद्धार्थ पुलकित हो उठे। शुभ स्वप्नों का शुभतम फल उनकी वाणी से पहिले उनकी प्रफुल्ल मुखाकृति ने कह दिया। उन्होंने बताया कि तुम्हारे उदर से तीन लोक के हृदयों पर शासन करने वाले धर्मतीर्थ के प्रवर्तक, भावी तीर्थंकर बालक का जन्म होगा। आज तुम्हारी कुक्षि उसी प्रकार धन्य हो गई जिस प्रकार आदि तीर्थंकर ऋषभदेव (आदिनाथ) के गर्भभार से मरुदेवी की हुई थी।

समग्रतः ये स्वप्न बताते हैं कि तुम्हारा पुत्र गज-सा बलिष्ठ, वृषभ-सा कर्मठ, सिंह-सा प्रतापी, अनन्त चतुष्टय लक्ष्मी का धारी, पुष्पों-सा कोमल, चन्द्रमा-सा शीतल, सूर्य-सा अज्ञानांधकार नाशक, स्वर्णकलश-सा मंगलमय, जलाशय में क्रीड़ारत मीन-युगल के समान ज्ञानानन्द सागर में मग्न रहने वाला, निर्मल समकित ज्ञान से भरपूर, सागर-सा गंभीर, तीन लोक के दिलों पर शासन करने वाला, सोलहवें स्वर्ग से आने वाला, अवधिज्ञान का धनी, रत्नों की राशि-सा देदीप्यमान, एवं अग्निशिखा-सा जाज्वल्यमान होगा।

सुनहरे शुभ स्वप्नों का शुभतम फल जानकर महारानी त्रिशला अत्यन्त प्रसन्न हुईं। सर्वांग-सुन्दर त्रिलोक-पूज्य पुत्र प्राप्ति का शुभ समाचार जानकर कौन माँ प्रसन्न न होगी?

आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन सोलह कारण भावनाएँ भाकर तीर्थंकर प्रकृति बांधने वाले राजा नन्द का जीव सोलहवें स्वर्ग से चयकर प्रियकारिणी माँ त्रिशला के गर्भ में आया। माता-पिता के उत्साह, प्रसन्नता और धन्य-धान्यादि वैभव के साथ-साथ बालक भी माँ के गर्भ में नित्य वढ़ने लगा।

पुरजनों और परिजनों की आनन्दमय चिर-प्रतीक्षा के बाद चैत्र शुक्ला त्रयोदशी का शुभ दिन आया। जिस प्रकार प्रभात की पवित्र वेला में पूर्व दिशा सूर्य को जन्म देती है, उसी प्रकार ममतामयी माँ त्रिशला ने उगते हुए सूर्य-सा तप्त स्वर्णाभा से युक्त तेजस्वी बालक को जन्म दिया। नित्य वृद्धिगत देख उनका सार्थक नाम वर्द्धमान रखा गया।

उनके जन्म का उत्सव परिजनों-पुरजनों के साथ-साथ सम्पूर्ण गणराज्य में बड़े ही उत्साह के साथ मनाया गया। इस मंगलमय पावन अवसर पर इन्द्रों और देवों ने भी सिद्धार्थ के दरवाजे पर आकर महान उत्सव किया, जिसे जन्म-कल्याणक महोत्सव कहते हैं। इन्द्र उन्हें ऐरावत हाथी पर बिठाकर सुमेरु पर्वत पर ले गया। वहाँ पाण्डुक शिला पर विराजमान कर क्षीरसागर के जल से उनका विराट अभिषेक किया, जिसका विस्तृत वर्णन जैन पुराणों में उपलब्ध है।

बालक वर्द्धमान जन्म से ही स्वस्थ, सुन्दर एवं आकर्षक व्यक्तित्व वाले थे। वे दोज के चंद्र की भांति वृद्धिगत होते हुए अपने वर्द्धमान नाम को सार्थक करने लगे। उनकी कंचनवर्णी काया अपनी निर्मल कान्ति से चारों ओर के वातावरण को निर्मल करती हुई सब को आकर्षित करती थी। उनके रूप-सौंदर्य का पान करने के लिए सुरपति (इन्द्र) ने हजार नेत्र बनाये थे।

वे आत्मज्ञानी, विचारवान, विवेकी और निर्भीक बालक थे। डरना तो उन्होंने सीखा ही न था। वे साहस के पुतले थे। अतः उन्हें बचपन से ही वीर, अतिवीर कहा जाने लगा था। आत्मज्ञानी होने से उन्हें सन्मति भी कहते थे। उनके पांच नाम प्रसिद्ध हैं – वीर, अतिवीर, महावीर, सन्मति और वर्द्धमान।

एक बार एक हाथी मदोन्मत्त हो गया और गजशाला के स्तंभ को तोड़कर नगर में विप्लव मचाने लगा। सर्वत्र खलबली मच गई। सब लोग घबराकर इधर-उधर भागने लगे। गजराज की भयावह गर्जना से आकाश गुंजायमान होने लगा। उक्त कठिनतम परिस्थिति में कुशलतम महावतों के प्रबलतम प्रयत्न निष्फल साबित हो रहे थे। वह विशाल विकराल गजराज बड़े-बड़े वीरों के भी काबू में नहीं आरहा था। यदि उस पर अति शीघ्र काबू न पाया जाता तो अपार जन-धन हानि की संभावना स्पष्ट दिखाई दे रही थी। राजकुमार वर्द्धमान को पता लगते ही वे तत्काल आये। उन्होंने शीघ्र ही अपनी शक्ति और युक्तियों से गजराज पर क़ाबू पा लिया, क्षण भर में उसे निर्मद कर दिया। राजकुमार वर्द्धमान की वीरता देख लोग स्तंभित रहे गये। वे कहने लगे कि आपकी वीरता श्लाघनीय है।

वर्द्धमान गंभीर मुद्रा में उनकी ओर देखते हुए बोले – साधारण पशुओं को जीतने में कौन सी वीरता की बात है? अपने को जीतना ही सच्ची वीरता है, मोह-राग-द्वेष को जीतना ही अपने को जीतना है। दूसरों को तो इस जीव ने हजारों बार जीता है, पर अपने को नहीं जीता। दूसरों को जानने और जीतने में इस जीव ने अनन्त भव खोये हैं और दुःख ही पाया है। एक बार अपने को जान लेता और अपने को जीत लेता तो ज्ञानानन्दमय हो जाता। भव-भ्रमण से छूटकर भगवान बन जाता। हाथी को वश में कर लेना भी कोई वीरता है? हाथी को वश में रखना ही वीरता हो तो सभी महावत वीर ही होंगे, सदा तो वे ही हाथियों पर अनुशासन करते हैं। दूसरों पर अनुशासन कोई बड़ी बात नहीं। बड़ी बात तो आत्मानुशासन है। जिन्होंने अपने पर अनुशासन कर लिया है, उन्होंने ही अपने को पाया है।

राजकुमार बालक वर्द्धमान की वीरता और धैर्य के साथ-साथ उनके विचारों की प्रौढ़ता देखकर राज्यपरिषद् के प्रौढ़ सदस्यगण भी अचंभित हुए बिना न रह सके।

वे प्रत्युत्पन्नमति थे और विपत्तियों में अपना संतुलन नहीं खोते थे। उनकी वीरता, निर्भीकता एवं धीरता की चर्चा देवलोक में

भी होती थी। एक बार संगम नामक देव ने वर्द्धमान की परीक्षा लेने की ठानी। फिर क्या था – जब एक दिन अपनी बाल-सुलभ क्रीड़ाओं से माता-पिता, परिजनों और पुरजनों को आनन्द देने वाले राजकुमार वर्द्धमान अन्य राजकुमारों के साथ क्रीड़ा-वन में खेल रहे थे व खेल ही खेल में अन्य बालकों के साथ वर्द्धमान भी एक वृक्ष पर चढ़ गये – तब संगम नामक देव एक भयंकर काला सर्प का रूप बनाकर उसी वृक्ष से लिपट गया। वह नागराज साक्षात् काल-सा लगता था, क्रोधावेश में आकर वीरों को भी कंपित कर देने वाली फुंकार कर रहा था, चारों ओर एकदम सन्नाटा छा गया। विषम स्थिति में अपने को पाकर अन्य राजकुमार भय से कांपने लगे, पर अनेक प्रयत्न करने पर भी धीर-वीर बालक वर्द्धमान को वह भयंकर नागराज विचलित न कर सका। महावीर वर्द्धमान को अपनी ओर निर्भय और निःशंक आता देख वह भयंकर नागराज निर्मद होगया। उसने अपना असली रूप प्रगट कर दिया और वह बालक वर्द्धमान का धैर्य और वीरता देख कर इस प्रकार स्तुति करने लगा कि – आप वास्तव में वीर हैं, वीर ही नहीं; महावीर हैं। आपकी वीरता की प्रशंसा जितनी की जाय थोड़ी है।

वर्द्धमान मुस्करा कर बोले – इसमें वीरता की क्या बात है? क्या सांप से न डरना ही वीरता और महावीरता है? क्या वीरता की कसौटी दुनियाँ में यही रह गई है? यदि हाँ, तो फिर सभी सपेरे महावीर हैं। और तुम आये थे मेरी परीक्षा लेने? और अब 'महावीर' का प्रमाण-पत्र भी दे रहे हो! पर मुझे आपके प्रमाण-पत्र की आवश्यकता ही कब है? क्या भविष्य में वीरता प्रमाण-पत्रों से ही चलेगी? यदि जांचना है तो अपने को जांचो, यदि परखना है तो अपने को परखो, पर को क्यों परखते हो? सब दूसरों को ही परखना चाहते हैं, दूसरों को ही जानना चाहते हैं। आत्मा का स्वभाव स्वपर प्रकाशक है। 'स्व' को पहिले जानो फिर बाद में 'पर' का ज्ञान भी हो जायगा।

बालक वर्द्धमान की तर्कपूर्ण उत्तेजक गंभीर वाणी सुनकर संगम देव पानी-पानी हो गया और बारम्बार उनकी स्तुति-वंदना करने लगा।

राजकुमार वर्द्धमान के धैर्य और वीरता की चर्चा नगर में सर्वत्र होने लगी। लोग उन्हें वर्द्धमान के साथ-साथ वीर, अतिवीर और महावीर नामों से भी संबोधित करने लगे।

वे प्रतिभासम्पन्न राजकुमार थे। अद्वितीय प्रतिभा के धनी राजकुमार वर्द्धमान बड़ी से बड़ी समस्याओं का समाधान चुटकियों में कर देते थे। दार्शनिक चर्चा के रसिक वर्द्धमान बातों ही बातों में महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्त अपने साथियों के गले उतार देते थे।

एक दिन वे राजमहल की चौथी मंजिल पर एकान्त में विचार-मग्न बैठे थे। उनके बाल-साथी उनसे मिलने को आए और माँ त्रिशला से पूछने लगे 'वर्द्धमान कहाँ है'? गृहकार्य में संलग्न माँ ने सहज ही कह दिया 'ऊपर'। सब बालक ऊपर को दौड़े और हाँफते हुए सातवीं मंजिल पर पहुँचे, पर वहाँ वर्द्धमान को न पाया। जब उन्होंने स्वाध्याय में संलग्न राजा सिद्धार्थ से वर्द्धमान के सम्बन्ध में पूछा तो उन्होंने विना गर्दन उठाये ही कह दिया 'नीचे'। माँ और पिता के परस्पर विरुद्ध कथनों को सुनकर बालक असमंजस में पड़ गये। अन्ततः उन्होंने एक-एक मंजिल खोजना आरंभ किया और चौथी मंजिल पर वर्द्धमान को विचार-मग्न बैठे पाया। सब साथियों ने उलाहने के स्वर में कहा 'तुम यहाँ छिपे-छिपे दार्शनिकों की सी मुद्रा में बैठे हो और हमने सातों मंजिलें छान डाली'। 'माँ से क्यों नहीं पूछा?' वर्द्धमान ने सहज प्रश्न किया। साथी बोले 'पूछने से ही तो सब कुछ गड़बड़ हुआ। माँ कहती है – 'ऊपर' और पिताजी 'नीचे'। कहाँ खोजें? कौन सत्य है?' वर्द्धमान ने कहा 'दोनों सत्य हैं, मैं चौथी मंजिल पर होने से माँ की अपेक्षा 'ऊपर' और पिताजी की अपेक्षा 'नीचे' हूँ, क्योंकि माँ पहली मंजिल पर और पिताजी सातवीं मंजिल पर हैं। इतना भी नहीं समझते? ऊपर-नीचे की स्थिति सापेक्ष है। बिना अपेक्षा ऊपर-नीचे का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तु की स्थिति 'पर' से निरपेक्ष होने पर भी उसका कथन सापेक्ष होता है।' इस प्रकार बालक वर्द्धमान गहन सिद्धान्तों को बालकों को भी सहज समझा देते थे।

वे शान्त प्रकृति के तो थे ही, युवावस्था में प्रवेश करते ही उनकी गंभीरता और बढ़ गई। वे अत्यन्त एकान्तप्रिय हो गये एवं निरन्तर चिन्तवन में ही लगे रहते थे तथा गूढ़-गूढ़ तत्त्वचर्चायें किया करते थे। किसी भी बात को वे तर्क की तुला पर तोलकर और अनुभव की कसौटी पर कसकर ही स्वीकार करते थे। तत्त्व-सम्बन्धी बड़ी से बड़ी शंकाएँ तत्त्व-जिज्ञासु उनसे करते और वे बातों ही बातों में उनका समाधान कर देते थे। बहुत सी शंकाओं का समाधान तो उनकी सौम्य आकृति ही कर देती थी। बड़े-बड़े ऋषि-गणों की शंकाएँ भी उनके दर्शन मात्र से शान्त हो जाती थीं। वे शंकाओं का समाधान नहीं करते थे, वरन् स्वयं समाधान थे।

एक बार संजय और विजय नाम के दो चारण ऋद्धिधारी मुनियों की शंका का समाधान वर्द्धमान को दूर से देखने मात्र से हो गया तो उन्होंने होनहार बालक वर्द्धमान को 'सन्मति' नाम से संबोधित किया।

जब इसकी चर्चा वर्द्धमान से उनके साथियों ने की तो उन्होंने सहज ही कहा कि सर्व समाधान कारक तो अपना आत्मा है जो स्वयं ज्ञान-स्वरूप है। दूसरों को देखना, सुनना आदि तो निमित्त मात्र हैं। मुनिराजों की शंकाओं का समाधान उनके अंतर से स्वयं हुआ, वे उस समय मुझे देख रहे थे, अतः मुझे देखने पर आरोप आ गया; यदि सुन रहे होते तो सुनने पर आ जाता। ज्ञान तो अन्तर से आता है, किसी पर-पदार्थ में से नहीं।

दूसरी बात यह भी है कि मैं यदि 'सन्मति' हूँ तो अपनी सद्बुद्धि के कारण, तत्त्वार्थों के सही निर्णय करने के कारण हूँ[1], न कि मुनिराजों की शंका के समाधान के कारण। यदि किसी जड़ पदार्थ को देखने से किसी को ज्ञान हो जावे तो क्या वह जड़ पदार्थ भी 'सन्मति' कहा जायेगा ? ज्ञान का निमित्त तो जड़ पदार्थ भी हो सकता है,

---

[1] तत्त्वार्थं निर्णयात्प्राप्य सन्मतित्वं सुबोध वाक् ॥२॥

— उत्तरपुराण, ७४वां पर्व

होता भी है। चश्मा जड़ पदार्थ है, पर देखने में निमित्त कहा ही जाता है। वैसे पांचों द्रव्य-इन्द्रियाँ भी जड़ ही हैं, भाषा भी जड़ है – क्योंकि शब्द पुद्गल की पर्याय है, और पुस्तकें तो स्पष्ट ही कागज-स्याही का परिणमन है। इन सबको ज्ञान का निमित्त कहा जाता है तो क्या सब 'सन्मति' होंगे ? मैं अपने सम्यग्ज्ञान (सम्यकत्वसहित ज्ञान) के कारण सन्मति हूँ, न कि दूसरों की शंकाओं का समाधानकर्त्ता होने के कारण। मुनिराजों ने जो कहा सो ठीक कहा, पर वह आरोपित कथन है, इस प्रकार कथन किया जाता है – विशेषकर भक्ति आदि में और नामकरण में ऐसा कथन अधिक होता है; किन्तु हमें उस आरोप को अवश्य समझना चाहिए।

साथी राजकुमार वर्द्धमान की तर्कसंगत एवं विनम्र वाणी को सुनकर अत्यधिक प्रभावित हुए।

इस तरह वर्द्धमान के बाकी चार नाम एक तरह से उपाधियाँ हैं जो समय-समय पर उन्हें प्राप्त होती रहीं। उन्हें इनमें कोई रस न था और न ही उन्होंने इन्हें स्वीकार ही किया, पर स्नेही जगत कब इस प्रकार की परवाह करता है? लोग तो उन्हें विभिन्न नामों से अभिहित करने ही लगे।

वैसे तो राजकुमार वर्द्धमान जन्म से ही सर्वांग-सुन्दर थे किन्तु जब उन्होंने कैशोर्य समाप्तकर यौवन में प्रवेश किया तब उनकी सुन्दरता एवं सुडोलता अंग-प्रत्यंग से झांकने लगी। उनके असाधारण रूप, बल, पराक्रम, तेज तथा बुद्धि और विवेक की चर्चा भारतवर्ष में सर्वत्र फैल ही चुकी थी।

उनके अपूर्व रूपसौंदर्य एवं असाधारण बल-विक्रम से प्रभावित हो, अनेक राजागण अप्सराओं के सौंदर्य को लज्जित कर देने वाली अपनी-अपनी कन्याओं की शादी उनसे करने के प्रस्ताव को लेकर राजा सिद्धार्थ के पास आए, पर अनेक राज-कन्याओं के हृदय में वास करने वाले महावीर वर्द्धमान का मन उन कन्याओं में न था। माता-पिता ने भी उनसे शादी करने का बहुत आग्रह किया पर वे तो इन्द्रिय-निग्रह का निश्चय कर चुके थे। चारों ओर से उन्हें गृहस्थी के

बंधन में बांधने के अनेक यत्न किये गये, पर वे अबंध-स्वभावी आत्मा का आश्रय लेकर संसार के सर्व-बन्धनों से मुक्त होने का निश्चय कर चुके थे।

दुनियाँ ने उन्हें अपने रंग में रंगना चाहा पर आत्मा के रंग में सर्वांग सराबोर महावीर पर दुनियाँ का रंग न चढ़ा। यौवन ने अपने प्रलोभनों के पांसे फैंके किन्तु उसके भी दाव खाली गये। माता-पिता की ममता ने उन्हें रोकना चाहा पर माँ के आँसुओं की बाढ़ भी उन्हें बहा न सकी। जो राग का बंधन तोड़ चुका हो, उसे कौन वांध सकता था। परिजन और पुरजन उन्हें गृहस्थी में बांधना चाहते थे, किन्तु वे तो गृह से भी विरक्त हो गये थे।

एक दिन विचारमग्न वर्द्धमान ने अपने सुदूर-पूर्व जीवन में झांकने का यत्न किया और उन्हें जातिस्मरण हो गया। उन्हें अपने अनेक पूर्व भव हस्तामलकवत् स्पष्ट दिखने लगे, उन्हें सब कुछ स्पष्ट हो गया। वे संसार से पूर्णतः विरक्त हो गये। उन्होंने घर-वार छोड़ नग्न दिगम्बर हो पूर्ण आत्माराधना का दृढ़ निश्चय कर लिया।

उनके निश्चय का पता जब उनके माता-पिता, परिजन और पुरजनों को लगा तब उन्होंने उन्हें रोकने का बहुत प्रयत्न किया; किन्तु उनका वह राग-तन्तु ही टूट चुका था जिसके कारण व्यक्ति परिवार और घरबार से जुड़ता है। वे किन्हीं दूसरों के कारण विरक्त नहीं हुए थे, उनकी विरक्ति उनके अन्तर की सहज वीतराग-परिणति का परिणाम थी। अतः उनका रुक जाना संभव ही न था, रुकने का कोई कारण ही न था। उस सीमा का राग रहा ही न था जिसमें वे किसी से बंध सकते थे या बंधे रह सकते थे।

वे किन्हीं दूसरों के लक्ष्य से साधु नहीं बनना चाहते थे। वास्तव में वे साधु बनना नहीं चाहते थे बल्कि उनमें साधुता प्रगट हो चुकी थी। उनका चित्त जगत के प्रति सजग न होकर आत्मनिष्ठ था। देश-काल की परिस्थितियों के कारण उन्होंने अपनी वासनाओं का दमन नहीं किया था। उन्हें दमन की आवश्यकता भी न थी क्योंकि वासनाएँ स्वयं अस्त हो चुकी थीं।

उनके साधु होने के कारण तत्कालीन परिस्थितियों में खोजना व्यर्थ है। उनका विराग परोपजीवी नहीं था। परिस्थिति-जन्य विराग परिस्थितियों की समाप्ति पर समाप्त हो जाता है।

उनके इस निश्चय को जानकर लोकान्तिक देवों ने आकर उनके इस कार्य की प्रशंसा की, उनकी वंदना की, भक्ति की। उनके दीक्षा (तप) कल्याणक के महान उत्सव की व्यवस्था भी इन्द्र ने आकर की।

प्रभु के दीक्षा प्रसंग का महोत्सव बड़ा ही भावुकतापूर्ण था। उनका यह महानिष्क्रमण महान शुभ होकर भी राग की तीव्रता के कारण उनके निकटवर्ती जनों को पीड़ाकारक हो रहा था। प्रभु की पालकी कौन उठाये, इस संबंध में मानवों और देवों में मतभेद हो गया। देवों में दिव्य-शक्ति होने पर भी विजय मानवों की हुई, क्योंकि यहाँ प्रतियोगिता देहशक्ति की न होकर, आत्मबल की थी; पाने की न होकर, त्यागने की थी। जो प्रभु के साथ ही दीक्षित हो, वही प्रभु की पालकी उठाये। इस मैदान में इन्द्र परास्त हो गया, देव परास्त हो गये और उन्हें उस समय अपने इन्द्रत्व और देवत्व की तुच्छता मानव भव के सामने स्पष्ट अनुभव हुई। पर क्या हो सकता था? सर्वप्रथम प्रभु की पालकी मानवों ने उठाई, बाद में देवों ने।

इस प्रकार प्रभु तीसवर्षीय भरे यौवन में मंगसिर कृष्ण दशमी के दिन नग्न-दिगम्बर हो स्वयं दीक्षित हो गये। प्रभु वर्द्धमान का राग सब से टूट चुका था, अतः उनके सब वेष छूट गये थे। उन्होंने सब वस्त्राभूषणों का त्याग बुद्धिपूर्वक, विकल्पपूर्वक कर दिया; क्योंकि उन्हें उनसे कोई प्रयोजन ही न रह गया था। उन्होंने बुद्धिपूर्वक सब छोड़ा था, कुछ ओढ़ा न था। वे साधु बने नहीं, हो गये।

साधु बनने में वेष पलटना पड़ता है, साधु होने में स्वयं ही पलट जाता है। स्वयं के बदल जाने पर वेष भी सहज ही बदल जाता है। वेष बदल क्या जाता है, सहज वेष हो जाता है, यथा-जात वेष हो जाता है; जैसा पैदा हुआ था वही रह जाता है, बाकी सब छूट जाता है।

वस्तुतः साधु की कोई ड्रेस ही नहीं है, सब ड्रेसों का त्याग ही साधु का वेष है। ड्रेस बदलने से साधुता नहीं आती, साधुता आने पर ड्रेस छूट जाती है। यथा-जातरूप (नग्न) ही सहज वेष है और सब वेष तो श्रमसाध्य हैं, धारण करने रूप हैं। वे साधु के वेष नहीं हो सकते क्योंकि उनमें गांठ है, उनमें गांठ बांधना अनिवार्य है; साधुता बंधन नहीं है, उसमें सर्व-बंधनों की अस्वीकृति है। साधु का कोई वेष नहीं होता, नग्नता कोई वेष नहीं। वेष साज-संभार है, साधु को सजने, संवरने की फुर्सत ही कहां है? उसका सजने का भाव ही चला गया है। सजने में 'मैं दूसरों को कैसा लगता हूं?' का भाव प्रमुख रहता है। साधु को दूसरों से प्रयोजन ही नहीं है, वह जैसा है– वैसा ही है। वह अपने में ऐसा मग्न है कि दूसरों के बारे में सोचने का काम ही नहीं। दूसरे उसके बारे में क्या सोचते हैं, इसकी उसे परवाह ही नहीं। सर्व वेष शृंगार के सूचक हैं। साधु को शृंगार की आवश्यकता ही नहीं। अतः उसका कोई वेष नहीं होता।

दिगम्बर कोई वेष नहीं है, सम्प्रदाय नहीं है; वस्तु का स्वरूप है। पर हम वेषों को देखने के इतने आदी हो गये हैं कि वेष के बिना सोच ही नहीं सकते। हमारी भाषा वेषों की भाषा हो गई है। अतः हमारे लिए दिगम्बर भी वेष हो गया है। हो क्या गया – कहा जाने लगा है। सब वेषों में कुछ उतारना पड़ता है और कुछ पहिनना होता है, पर इसमें छोड़ना ही छोड़ना है, ओढ़ना कुछ भी नहीं है। छोड़ना भी क्या उघड़ना है, छूटना है। अन्दर से सब कुछ छूट गया है, देह भी छूट गई है; पर बाहर से अभी वस्त्र ही छूटे हैं, देह छूटने में कुछ समय लग सकता है, पर वह भी छूटना है, क्योंकि उसके प्रति भी जो राग था वह टूट चुका है। देह रह गई है तो रह गई है, जब छूटेगी तब छूट जायगी, पर उसकी भी परवाह छूट गई है।

महावीर मुनिराज वर्द्धमान नगर छोड़ वन में चले गये। पर वे वन में भी गये कहां हैं? वे तो अपने में चले गये हैं, उनका वन में भी अपनत्व कहां है? उन्हें वनवासी कहना भी उपचार है, क्योंकि वे वन में भी कहां रहे? वे तो आत्मवासी हैं। न उन्हें नगर से लगाव है, न वन से; वे तो दोनों से अलग हो गये हैं, उनका तो पर से अलगाव ही अलगाव है।

रागी वन में जायगा तो कुटिया बनायगा, वहाँ भी घर बसायगा, ग्राम और नगर बसायगा; भले ही उसका नाम कुछ भी हो, है तो वह घर ही। रागी वन में भी मंदिर के नाम पर महल बसायगा, महलों में भी उपवन बसायगा। वह वन में रहकर भी महलों को छोड़ेगा नहीं, महल में रहकर भी वन को छोड़ेगा नहीं।

पर महावीर तो बहुत कुछ वीतरागी हो गये थे। रहा-सहा राग भी तोड़कर पूर्ण वीतरागी बनने के पथ पर चल पड़े थे। उनके लिए वन और नगर में कोई भेद नहीं रहा था। सब कुछ छूट गया था, वे सब से टूट गये थे।

उन्होंने सर्वथा मौन धारण कर लिया था, उनको बोलने का भाव ही न रहा था। वाणी पर से जोड़ती है, उन्हें पर से जुड़ना ही न था। वाणी विचारों की वाहक है, वह परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करने में निमित्त होती है, वह समझने-समझाने के काम आती है; उन्हें किसी से कुछ समझना ही न था, जो समझने योग्य था उसे वे अच्छी तरह समझ चुके थे, अब तो उसमें मग्न थे। उन्हें किसी को समझाने का राग भी न रहा था, अतः वाणी का क्या प्रयोजन ? वाणी उन्हें प्राप्त थी, पर वाणी की उन्हें आवश्यकता ही न थी। जो उन्हें चाहिये ही नहीं, वह रहे तो रहे, उससे उन्हें क्या ? रहे तो ठीक, न रहे तो ठीक। वे तो निरन्तर आत्म-चिंतन में ही लगे रहते थे।

नहाना-धोना सब कुछ छूट गया था। वे स्नान और दंत-धोवन के विकल्प से भी परे थे। शत्रु और मित्र में समभाव रखने वाले मुनिराज वर्द्धमान गिरि-कन्दराओं में वास कर रहे थे। वस्तुतः न उनका कोई शत्रु ही रहा था और न कोई मित्र। मित्र और शत्रु राग-द्वेष की उपज हैं। जब उनके राग-द्वेष ही समाप्त-प्रायः थे, तब शत्रु-मित्रों के रहने का कोई प्रश्न ही नहीं रह गया था। मित्र रागियों के होते हैं और शत्रु द्वेषियों के – वीतरागियों का कौन मित्र और कौन शत्रु ? कोई उनसे शत्रुता करो तो करो, मित्रता करो तो करो, उन पर उनकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती है। शत्रु-मित्र के प्रति समभाव का

अर्थ ही शत्रु-मित्र का अभाव है। उनके लिए उनका न कोई शत्रु था और न कोई मित्र। अन्य लोग उन्हें अपना शत्रु मानो तो मानो, अपना मित्र मानो तो मानो, अब वे किसी के कुछ भी न रह गये थे। किसी का कुछ रहने में कुछ लगाव होता है, उन्हें जगत् से कोई लगाव ही न रहा था।

प्रकृति की प्रतिकूलता और अनुकूलता के प्रति भी उनके अंतर में कोई उत्साह और अनुत्साह न रह गया था। वे शीत, उष्ण, वर्षा आदि ऋतुओं के प्रचण्ड वेग से तनिक भी विचलित न होते थे। उन्हें प्रकृति का स्वाभाविक सौंदर्य भी लुभा नहीं पाता था, क्योंकि वहाँ लुभाने वाला मन ही न रहा था। उन्हें प्रकृति की भयंकरता भी विचलित नहीं कर पाती थी, क्योंकि वे पूर्ण अभय हो गये थे।

उनकी सौम्य मूर्ति, स्वाभाविक सरलता, अहिंसामय जीवन एवं शान्त स्वभाव को देखकर बहुधा वन्य पशु भी स्वभावगत वैर-विरोध छोड़कर साम्यभाव धारण करते थे। अहि-नकुल तथा गाय और शेर तक भी एक घाट पानी. पीते थे। जहाँ वे ठहरते, वातावरण सहज शान्तियम हो जाता था।

कभी कदाचित् भोजन का विकल्प उठता तो अनेक अटपटी प्रतिज्ञायें लेकर वे भोजन के लिए समीपस्थ नगर की ओर आते। यदि कोई श्रावक उनकी प्रतिज्ञाओं के अनुरूप शुद्ध सात्विक आहार नवधा-भक्तिपूर्वक देता तो अत्यन्त सावधानीपूर्वक निरीह भाव से खड़े-खड़े आहार ग्रहण कर शीघ्र वन को वापिस चले जाते थे। साधु होने के बाद सर्वप्रथम उनका आहार कुलग्राम नामक नगर के राजा कूल के यहाँ हुआ था। एक बार मुनिराज महावीर का आहार अति विपन्नावस्था को प्राप्त सती चंदनबाला के हाथ से भी हुआ था।

सती चंदनबाला राजा चेटक की सब से छोटी पुत्री थी। किसी कामातुर विद्याधर द्वारा उपवन में क्रीड़ारत यौवना चंदनबाला का अपहरण कर लिया गया था, किन्तु पत्नी के आ जाने से वह पत्नी-भीरु विद्याधर के द्वारा भयंकर वन में छोड़ दी गई। वहाँ वह एक भील के हाथ पड़ गई। उसनें उसे वृषभदत्त नामक सेठ को बेच दी। वृषभदत्त

सेठ की पत्नी का नाम था सुभद्रा। स्वभाव से शंकालु सुभद्रा सहज ही आशंकित हो गई कि कहीं सेठ इस पर मोहित न हो जाय। पुत्रीवत् चंदना उसे सपत्नी सी प्रतीत होने लगी। उसका व्यवहार चंदना के प्रति उग्र से उग्रतर और उग्रतम हो गया। उसकी कठोरता बढ़ती ही गई।

स्त्रियाँ स्त्रियों के प्रति सहज ही कठोर होती हैं। फिर जिसमें सपत्नी की आशंका हो, उसके प्रति क्या कहना ? गुरबेल (गिलोय) स्वभाव से ही अत्यन्त कटुक होती है, वह नीम पर चढ़ रही हो तो फिर उसका क्या कहना ?

सेठानी सुभद्रा बाला चन्दना को खाने के लिए मिट्टी के पात्र में मात्र कोदों का भात (कुदई), वह भी कांजी मिली हुई देती थी और सदा सांकल से बांधकर रखती थी। चंदना अपने दुर्दिनों को दुर्दैव का परिपाक जानकर साम्यभावपूर्वक काट रही थी। इसके अतिरिक्त कोई उपाय भी तो न था। करती भी क्या !

एक दिन मुनिराज वर्द्धमान वत्स देश की उसी कौशाम्बी नगरी में आहार के लिए आये जहाँ चन्दना बन्धन में थी। मुनिराज उस मकान के सामने से निकले जिसमें चन्दना कैदी का सा जीवन व्यतीत कर रही थी। चन्दना के तो भाग्य खुल गये। नग्न-दिगम्बर मुनिराज को देखकर वह पुलकित हो उठी। मुनिराज की वन्दना को वह एकदम दौड़ पड़ी। वह भक्ति और भावुकता के उन क्षणों में यह भूल ही गई थी कि 'मैं बंधी हुई हूँ'। वह तो ऐसे दौड़ी जैसे बंधी ही न हो और लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा; वह सचमुच ही बन्धन-मुक्त हो चुकी थी, उसकी बेड़ियाँ टूट चुकी थीं, उसके बन्धन खुल चुके थे। उसके खण्डित केश अखण्डित हो गये थे। यह सब कैसे हुआ, कुछ समझ में नहीं पड़ रहा था लोगों को। लोग अपने आश्चर्य को सहेज रहे थे और चन्दना वन्दना में लीन थी। उसे तो निधि मिल चुकी थी। उसको ध्यान ही न रहा कि मैं प्रभु को भोजन के लिए पड़गाहन तो कर रही हूँ, पर खिलाऊँगी क्या ? क्या मिट्टी के सकोरे में कोदों का भात खिलाऊँगी ? उसने तो पड़गाहन कर ही लिया और उनके योग्य आहार की सब समुचित व्यवस्था हो गई।

यह सब क्या हुआ ? कैसे हुआ ? सोचने वाले सोचते ही रहे और वहाँ तो चन्दना के हाथ से प्रभु का आहार भी हो गया। आश्चर्यों के निधान प्रभु वन को वापिस चले गये। चन्दना की वन्दना सफल हो गई, उसके बन्धन कट गये। आगे चलकर यही चन्दना भगवान महावीर के समवशरण में दीक्षित हो आर्यिकाओं में श्रेष्ठ प्रमुख गणनी बनी।

वीर प्रभु की महिमा के साथ-साथ चन्दना के भाग्य की सराहना भी सहज होने लगी। चौपालों में, चौराहों पर, यही चर्चा थी। कोई कह रहा था – बन्धन तभी तक बन्धन है – जब तक बन्धन की अनुभूति है। यद्यपि पर्याय में बंधन है, तथापि आत्मा तो अबन्ध-स्वभावी ही है। अनादिकाल से यह अज्ञानी प्राणी अबंध-स्वभावी आत्मा को भूलकर 'बंधन' पर केन्द्रित हो रहा है। वस्तुतः बंधन की अनुभूति ही बंधन है। वास्तव में 'मैं बंधा हूँ' – इस विकल्प से यह जीव बंधा है। लौकिक बंधन से विकल्प का बंधन अधिक मजबूत है, विकल्प का बंधन टूट जावे तथा अबंध की अनुभूति सघन हो जावे तो बाह्य बंधन भी सहज टूट जाते हैं। बंधन के विकल्प से, स्मरण से, मनन से, दीनता-हीनता का विकास होता है। अबंध की अनुभूति से, मनन से, चिन्तन से शौर्य का विकास होता है; पुरुषार्थ सहज जागृत होता है – पुरुषार्थ की जागृति में बंधन कहाँ ? चन्दना की बंधन की विस्मृति ही बंधन के अभाव का कारण बनी।

दूसरा बोला – बंधन के रहते हुए बंधन की अस्वीकृति और अबंध की स्वीकृति कैसे सम्भव है ? बंधन है, उसे तो न माने और 'अबंध' नहीं है, उसे स्वीकारे, यह कैसे सम्भव है ? तीसरा कह उठा – सम्भव है। स्वीकारना तो सम्भव है ही, द्रव्यदृष्टि से देखा जाय तो वस्तु भी ऐसी ही है। बंधन तो ऊपर ही है, अन्तर में तो पूरी वस्तु स्वभाव से अबंध ही पड़ी है। उसे तो किसी ने छुआ ही नहीं, वह तो किसी से बंधी ही नहीं। स्वभाव में बंधन नहीं – उसे स्वीकार करने भर की देर है कि पर्याय के बंधन भी टूटने लगते हैं। स्वतन्त्रता की प्रबलतम अनुभूति बंधन के काल में संभव है, क्योंकि अन्तर में स्वतन्त्र तत्त्व विद्यमान है, पर्याय के बंधन काटने में भी वही समर्थ कारण है।

सम्पूर्ण जगत से सर्वथा निरीह वीतरागी संत मुनिराज वर्द्धमान विहार करते हुए उज्जैनी पहुँचे। वहाँ वे अतिमुक्तक नामक श्मशान में प्रतिमायोग धारणकर ध्यानस्थ हो गये। पाप-कला में अत्यन्त प्रवीण स्थाणुरुद्र ने वहाँ आकर उन पर घोर उपसर्ग किया। विद्या के बल से उसने अनेक भयंकर से भयंकरतम रूप बनाये और उन्हें विचलित करने का कई बार असफल प्रयास किया। उसने हिंसक पशुओं के, भीलों के, राक्षसों के रूप में अनेकानेक उपद्रव किये। दूसरों को डराने-धमकाने में ही वीरता को सार्थक समझने वाले स्थाणुरुद्र ने वीरता की साक्षात् मूर्ति के दर्शन किए। उसने स्पष्ट अनुभव किया कि वीरता– निर्भयता और अडिगता का नाम है। वीरता हिंसा की पर्याय नहीं, अहिंसा का स्वरूप है। उसके उपद्रवों का महावीर की साधना पर कोई असर ही न हुआ।

आत्म-साधनारत वीतरागी संतों के ज्ञान में अंतरोन्मुखी वृत्ति के कारण बाह्य अनुकूल-प्रतिकूल संयोग आते ही नहीं। यदि आते भी हैं तो उनके चित्त में कोई भंवर पैदा नहीं करते, मात्र ज्ञान का ज्ञेय बनकर रह जाते हैं; क्योंकि वे तो अपनी और पर की परिणति को जानते-देखते हुए प्रवर्तते हैं। मुनिराज महावीर की अडिग साधना, अनेक संकटों के बीच भी निर्विकार सौम्याकृति और वीतरागी मुद्रा देख स्थाणुरुद्र का क्रोध काफूर हो गया। वह भय-मिश्रित आश्चर्य से विह्वल हो उनकी स्तुति करने लगा, अपने किए पर पछताने लगा।

'न काहू से दोस्ती न काहू से वैर' के प्रतीक मुनिराज महावीर पर इस परिवर्तन का भी कोई असर नहीं हुआ। वे तो अपने में मग्न थे। वे अपने अनुरूप क्रिया कर रहे थे और स्थाणुरुद्र भी अपने अनुरूप क्रिया कर रहा था। उससे उन्हें क्या लेना-देना था?

प्रत्येक द्रव्य की पूर्ण स्वतन्त्र सत्ता है, उसका भला-बुरा परिणमन उसके आधीन है, उसमें पर का कोई भी हस्तक्षेप नहीं है। तथा जिस प्रकार आत्मा अपने स्वभाव का कर्त्ता-भोक्ता स्वतन्त्र रूप से है, उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा अपने विकार का कर्त्ता-भोक्ता भी स्वयं है। इस रहस्य को गहराई से जानने वाले महावीर उससे सर्वथा निरीह ही रहे।

इस प्रकार मुनिराज महावीर निरन्तर वीतरागता की वृद्धिगत दशा को प्राप्त करते जा रहे थे। अन्तर्बाह्य घोर तपश्चरण करते हुए उन्हें बारह वर्ष व्यतीत हो गये। बयालीस वर्ष की अवस्था में एक दिन वे जृंभिका ग्राम के समीप ऋजुकूला नदी के किनारे मनोहर नामक वन में पहुँचे। वहाँ पर शाल वृक्ष के नीचे रत्नों के समान देदीप्यमान शिलापर प्रतिमायोग धारण कर विराजमान हो, ध्यानस्थ हो गये। वह बैसाख शुक्ला दशमी का दिन और शाम का समय था। हस्त और उत्तर नक्षत्र के मध्यभाग में चन्द्रमा आ गया था। उस समय उन्होंने आत्मा के आश्रय से परिणामों की अत्यन्त शुद्ध दशा की उपलब्धि की। अत्यन्त उग्र पुरुषार्थ के द्वारा अप्रतिपाती क्षपकश्रेणी का आरोहण कर वे शुक्लध्यानस्थ हो गये। आत्मनिमग्नता की अत्यन्त उग्रतम दशा के द्वारा अन्तर में विद्यमान सूक्ष्म राग का भी अभाव कर उन्होंने पूर्ण वीतराग दशा प्राप्त कर ली। पूर्ण वीतरागता प्राप्त होते ही अनन्तर समय में उन्हें पूर्णज्ञान (केवलज्ञान) भी प्राप्त हो गया।

अब वे पूर्ण वीतरागी, सर्वज्ञ हो गये थे, अतः भगवान कहलाये। मोह-राग-द्वेषरूपी शत्रुओं को पूर्णतः जीत लेने से वे सच्चे महावीर बने। उसी समय तीर्थंकर नामक महापुण्योदय से उन्हें तीर्थंकर पद की प्राप्ति हुई और वे तीर्थंकर भगवान महावीर के रूप में विश्रुत हुए। अब तक वे मुनिराज वर्द्धमान थे और अब तीर्थंकर भगवान महावीर।

सौधर्म इन्द्र को तत्काल विशेष चिह्नों से पता चला कि तीर्थंकर महावीर को पूर्णज्ञान की प्राप्ति हो चुकी है। उसने तत्काल आकर बड़े ही उत्साह से केवलज्ञान-कल्याणक महोत्सव किया और भगवान महावीर की पवित्र वाणी से सब लाभान्वित हो सके, तदर्थ कुबेर को आज्ञा दी कि शीघ्र समवशरण की रचना करो। तीर्थंकर की धर्मसभा को समवशरण कहा जाता है।

इन्द्र की आज्ञा पाकर कुबेर ने भगवान की धर्मसभा के निर्माण में अपना सम्पूर्ण कला-वैभव लगा दिया। उसने शीघ्र ही एक गोलाकार सभा-मण्डप की रचना की, जिसके बीच में भगवान के बैठने की

व्यवस्था थी। उसके चारों ओर बारह प्रकोष्ठ थे जिनमें श्रोताओं के बैठने की समुचित व्यवस्था थी। तीर्थंकर की धर्मसभा में राजा-रंक, गरीब-अमीर, गोरे-काले सब मानव एक साथ बैठकर धर्म श्रवण करते हैं। उनकी धर्मसभा में प्रत्येक प्राणी को जाने का अधिकार है। छोटे-बड़े और जाति-पांति का कोई भेद नहीं है। यहाँ तक की उसमें मुनि-आर्यिकाओं, श्रावक-श्राविकाओं, देव-देवांगनाओं के साथ-साथ पशुओं के बैठने की भी व्यवस्था रहती है और बहुत से पशु-पक्षी भी शान्तिपूर्वक धर्म श्रवण करते हैं। सर्वप्राणी-समभाव जैसा तीर्थंकरों के समवशरण में पाया जाता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

समवशरण की रचना बड़ी ही अद्भुत होती है। जिस सभा का प्रवक्ता तीर्थंकर जैसा महापुरुष और व्यवस्थापक स्वयं इन्द्र हो, उस सभा का वर्णन शब्दों में संभव नहीं है, फिर भी जैन शास्त्रों में समवशरण की रचना का विस्तार से वर्णन आता है। जिज्ञासु पाठकों को अपनी विशेष जिज्ञासा वहाँ से शांत करना चाहिए।

ऋजुकूला नदी के तटवर्ती समीपस्थ सभी प्रदेश में दुन्दुभि घोष द्वारा सूचना हो गई और श्रोताओं का विशाल जन-समुदाय तीर्थंकर भगवान महावीर की दिव्य-वाणी सुनने उमड़ पड़ा। सभा-मण्डप खचाखच भर गया, पर प्रभु की वाणी न खिरी। समय समाप्त होने पर लोग उदास घर चले गये। सबको प्रभु के दर्शन-प्राप्ति का परम सन्तोष था, पर वाणी श्रवण का अवसर न मिलने से उदासी भी सहज थी ही।

यह सब कुछ एक दिन ही नहीं हुआ, इसकी पुनरावृत्ति कई दिनों तक होती रही। जनता जुड़ती पर दिव्य-ध्वनि नहीं खिरती। कुछ दिनों बाद भगवान का वहाँ से विहार हो गया। वहाँ की जनता प्यासी ही रही। उनके दिव्य-प्रवचनों का लाभ उसे न मिला।

विहार होते ही समवशरण का विघटन हो गया, पर जहाँ जाकर भगवान रुके वहाँ फिर तत्काल समवशरण की रचना कर दी गई। जनता आई, दर्शन हुए, पर प्रवचन नहीं। इस प्रकार विहार होता रहा, पर प्रवचन नहीं हुआ। विहार करते-करते महावीर

राजगृही के निकट विपुलाचल पर्वत पर पहुँचे। वहाँ भी वैसा ही विशाल समवशरण बना और सीमातीत जन-समुदाय भी उनके दर्शन एवं श्रवण को उपस्थित हुआ, पर प्रभु का मौन न टूटा। ६५ दिन समाप्त हो चुके थे। सभी श्रोताओं के साथ-साथ प्रमुख नियामक सौधर्म इन्द्र का धैर्य भी समाप्त हो रहा था। यद्यपि वह अभी तक इसलिए निश्चिंत था कि समय आने पर प्रभु बोलेंगे अवश्य – क्योंकि वे तीर्थंकर केवली हैं, तथापि ६५ दिन की लम्बी अवधि ने उसको भी व्यग्र कर दिया। उसने अपने अवधिज्ञान का प्रयोग करते हुए सर्व कारणों की सम्यक् मीमांसा की। उपस्थित जन-समुदाय में प्रभु का प्रमुख शिष्य, जिसे गणधर कहते हैं, बनने की पात्रता किसी में न दिखी। उसने अपनी दृष्टि का घेरा और विशाल किया और इन्द्रभूति नामक महान विद्वान् पर जाकर उसकी दृष्टि रुक गई।

इन्द्रभूति गौतम वेद-वेदांगों के पारंगत विद्वान् थे। उनके पांचसौ शिष्य थे। इन्द्र ने जब यह अनुभव किया कि भगवान की दिव्य-ध्वनि को पूर्णतः धारण करने में समर्थ और उनका पट्ट-शिष्य बनने के योग्य इन्द्रभूति गौतम ही है, तब वह वृद्ध ब्राह्मण के वेष में इन्द्रभूति के आश्रम में पहुँचा।

इन्द्र ने इन्द्रभूति गौतम के समक्ष एक छन्द प्रस्तुत किया एवं अपने को महावीर का शिष्य बताते हुए उसका अर्थ समझने की जिज्ञासा प्रकट की। वह श्लोक इस प्रकार है :–

> त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं, नवपद सहितं, जीवषट्काय लेश्याः।
> पंचान्ये चास्तिकाया, व्रतसमितिगतिर्ज्ञानचारित्रभेदाः॥
> इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितैः प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः।
> प्रत्येति श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान् यः स वै शुद्धदृष्टिः॥

उक्त श्लोक सुनकर आर्हत मत से सर्वथा अपरिचित इन्द्रभूति विचारमग्न हो गये। वे सोचने लगे – तीन काल, छः द्रव्य, नौ पदार्थ, षट्काय जीव, षट् लेश्या, पंचास्तिकाय, व्रत, समिति, गति, ज्ञान, चारित्र – ये सब क्या हैं? इन सबकी क्या-क्या परिभाषाएँ हैं, इनके भेद-प्रभेद क्या हैं, इन सबकी जानकारी तो मुझे है ही नहीं। श्लोक का

इतना अर्थ बताने से तो काम चलेगा नहीं कि द्रव्य छः होते हैं, पदार्थ नौ होते हैं, जीव षट्काय के होते है, लेश्याएँ छः होती हैं। यदि इसने उनके नाम पूछे तो कैसे बताऊँगा ? यह उनकी परिभाषाएँ भी तो पूछ सकता है ? जब तक इन सबका ज्ञान मुझे नहीं है, तब तक मैं इसे क्या बताऊं ? पर इन्कार भी कैसे करूँ, यह क्या सोचेगा ?

वृद्ध ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र ने उनके चेहरे पर आते उतार-चढ़ाव को स्पष्ट अनुभव किया और उनकी दुखती रग को दबाते हुए बोले – क्यों, क्या सोचने लगे ? क्या मुझे महान विद्वान् इन्द्रभूति के दरवाजे से भी निराश लौटना होगा ? उक्त वाक्य से इन्द्रभूति के दर्प को कुछ चोट लगी, पर अपने तत्सम्बन्धी अज्ञान को दर्प में दबाते हुए इन्द्रभूति ने कहा – इस सम्बन्ध में मैं तुम्हारे गुरु से ही चर्चा करूंगा। चलो, वे कहाँ हैं ? मैं उन्हीं के पास चलता हूँ और वे चल ही पड़े। आगे-आगे वृद्ध ब्राह्मण (इन्द्र) और पीछे-पीछे अपने पांचसौ शिष्य समुदाय के साथ इन्द्रभूति गौतम।

इन्द्रभूति के सद्धर्म प्राप्ति का काल आ गया था। साथ ही भगवान की दिव्य-ध्वनि के खिरने का समय भी आ चुका था। समवशरण के निकट आते ही उनके विचारों में कठोरता का स्थान कोमलता ने ले लिया। समवशरण के द्वार पर स्थित मानस्तंभ की ओर देखते ही उनका मान गल गया और उनका तम गत हो गया। वे विनम्र भाव से समवशरण में पहुँचे, भगवान के दर्शन किए और बाहर के विशाल वैभव एवं उसके बीच विराजमान, पर उससे सर्वथा अलिप्त, तीर्थंकर वर्द्धमान केवली को देखा व देखते ही रहे। निर्निमेष नेत्रों से उन्हें देखे ही जा रहे थे, नयन तृप्त ही न होते थे। प्रभु सिंहासन से चार अंगुल ऊपर अधर में विराजमान थे। उनकी सौम्य और शान्त मुद्रा में उनके अन्तर की निर्विकारी स्थिति स्पष्ट प्रतिभासित हो रही थी।

अन्तर्मग्न प्रभु की मुद्रा ने मानो इन्द्रभूति गौतम को मौन उपदेश दिया कि यदि तुझे अतीन्द्रिय आनन्द एवं अन्तर की सच्ची शान्ति चाहिए तो मेरी ओर क्या देखता है ? अपनी ओर देख ! तू स्वयं

अनन्त ज्ञान एवं अनन्त आनन्द का पिण्ड परमात्मा है। आज तक तूने ज्ञान और आनन्द की खोज पर में ही की है, पर की खोज में इतना व्यस्त रहा है कि 'मैं कौन हूँ ?' 'मैं क्या हूँ ?' – जानने का अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ। मेरी ओर आँखें फाड़-फाड़ कर क्या देख रहा है ? अपनी ओर देख ! एक बार इसी जिज्ञासा से अपनी ओर देख !! जानने लायक, देखने लायक एकमात्र आत्मा ही है, अपना आत्मा ही है। यह आत्मा शब्दों से नहीं समझाया जा सकता, इसे वाणी से नहीं बताया जा सकता। यह शब्द-जाल और वाग्-विलास से परे है, यह मात्र जानने की वस्तु है, अनुभवगम्य है। यह अनुभवगम्य आत्मवस्तु ज्ञान का घनपिण्ड और आनन्द का कन्द है। अतः समस्त पर-पदार्थों, उनके भावों एवं अपनी आत्मा में उठने वाले विकारी-अविकारी भावों से भी दृष्टि हटाकर एक बार अन्तर में झाँक ! अन्तर में देख, अन्तर में ही देख ! देख !! देख !!!

अन्तरोन्मुख महावीर की अन्तरोन्मुखी होने हेतु मौन प्रेरणा पाकर इन्द्रभूति भी अन्तरोन्मुख हो गये, अन्तर में चले गये और जब बाहर आये तब उनके चेहरे पर अपूर्व शान्ति झलक रही थी। उन्होंने आज वह पा लिया था, जो आज तक न पाया था। वे आत्मा का अनुभव कर चुके थे, उन्होंने अतीन्द्रिय आनन्द का मधुरतम स्वाद अभी-अभी लिया था। उनका अंग-अंग रोमांचित हो रहा था। अब वे अधिक से अधिक उसी अनुभूति की दिशा में रहने के अभिलाषी हो गये थे। उन्होंने प्रभु के समक्ष उसी समय दीक्षा धारण कर ली तथा अन्तर के प्रबल पुरुषार्थ द्वारा मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त किया।

उनका हृदय भगवान महावीर के अनन्त उपकार से गद्-गद् हो रहा था, क्योंकि उन्हें प्रभु की कृपा से संसार का अभाव करने वाला सद्धर्म प्राप्त हो गया था। उनके सागरवत् गंभीर हृदय में भक्ति का भाव उमड़ रहा था। उनकी वाणी प्रस्फुटित हो उठी और वे इस प्रकार भगवान की स्तुति करने लगे :–

हे अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान के धनी, परम वीतरागी, गगनवत् विशाल और सागर से गंभीर व्यक्तित्व के धनी तीर्थंकर भगवान महावीर ! आप महान हैं।

हे जिनेन्द्र ! आपकी महानता बाह्य वैभव से नहीं है। वह आपका है भी नहीं, उसे तो आप दीक्षा लेते समय ही पूर्णतः त्याग चुके हैं। आपकी महानता तो अनन्तचतुष्टय रूप अंतरंग वैभव से है।

आपकी महिमा इस समवशरणादि विभूति से नहीं है और न इसलिए भी आप महान हैं कि बड़े-बड़े सम्राट एवं देव और इन्द्र तक आपके चरणों में नत-मस्तक हैं। आपके आकाशगमन, भोजनादि के बिना शरीर की स्थिति आदि अनेक अतिशयों से भी मैं आपकी महानता नहीं मानता हूँ, क्योंकि ये बाह्य वैभव तो पुण्याश्रित हैं, अन्यों में भी पाये जा सकते हैं।

आपकी महिमा तो आपके अन्तरंग वैभव से है। वह अन्तर का वैभव है आपकी सर्वज्ञता और परम वीतरागी भाव। न किसी से मित्रता न किसी से द्वेष; विरोधी और भक्त के प्रति समभाव। अलोकाकाश सहित तीन लोक के समस्त पदार्थों का जो भी परिणमन हो चुका है, हो रहा है, और भविष्य में होगा; उस सब को एक साथ हस्तामलकवत् पूर्णतः स्पष्ट जानने वाला ज्ञान, पर के कर्तृत्व से शून्य, मात्र जानते रहने वाला ज्ञानभाव ही आपका वास्तविक वैभव है।

हे प्रभो ! मैं आपकी वीतरागता और सर्वज्ञता से ही महिमावंत हुआ हूँ, बाह्य वैभव से नहीं। वीतरागता और सर्वज्ञता की पहिचान ही आपकी पहिचान है। घर-द्वार, माता-पिता, पुत्र-पुत्रियों से रागी पहिचाने जाते हैं। इन सब से पूर्णतः पृथक् हे जिनेश्वर ! आपके दर्शन पाकर मैं धन्य हो गया हूँ। मेरा यह मानव-जीवन सार्थक हो गया है। इसमें जो पाने लायक था, वह मैंने पा लिया है। मैंने आपको ही नहीं, नाथ ! अपने आपको भी पा लिया है।

हे प्रभो ! जो व्यक्ति आपके इस वैभव को जानते-पहिचानते हैं, वस्तुतः वे ही आपको जानते हैं, अन्य तो गतानुगतिक लोग हैं। राजा आया तो उसके साथ कर्मचारी भी आ गये, बाह्य-विभूति देखकर चकित रह गये, नत-मस्तक भी हो गये और आपसे भोगों की भीख मांगने लगे, आपको भोगों का दाता मानने लगे, भक्ति के आवेग में आपको भोग-दाता, वैभव-दाता, कर्त्ता-हर्त्ता बताने लगे।

हे भगवन ! वस्तुतः वे आपके भगत नहीं, भोगों के भगत हैं। उनके लिए भोग ही सब कुछ हैं, भोग ही भगवान हैं। वे आपके ही चरणों में नहीं, जहाँ भी भोगों की उपलब्धि प्रतीत करेंगे, झुकेंगे।

हे प्रभो ! कितने आश्चर्य की बात है, जिन भोगों को तुच्छ जानकर आपने स्वयं त्याग किया है, वे उन्हें ही इष्ट मान रहे हैं और आप से ही उनकी माँग कर रहे हैं, आपको ही उनका दाता बता रहे हैं। हे प्रभो ! आपके अनन्तज्ञान की महिमा तो अनन्त है ही, पर अज्ञानियों के अज्ञान की महिमा भी अनन्त है, अन्यथा वे इस प्रकार व्यवहार क्यों करते ?

हे प्रभो ! जो व्यक्ति आपके इस वीतरागी-सर्वज्ञ स्वभाव को भली प्रकार जान लेता है – पहिचान लेता है, वह अपने आत्मा को भी जान लेता है – पहिचान लेता है और उसका मोह (मिथ्यात्व) अवश्य नष्ट हो जाता है। वह आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा चारित्र-मोह का भी क्रमशः नाश करता जाता है और कालान्तर में जाकर वह भी वीतरागी बन जाता है। उसके समस्त मोह-राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं। वह लोकालोक का ज्ञाता हो जाता है, वह स्वयं वीतराग-सर्वज्ञ बन जाता है[१]।

हे प्रभो ! जिसके क्षयोपशम ज्ञान में वीतरागता और सर्वज्ञता का सच्चा स्वरूप आ गया, वह निश्चित रूप से भविष्य में पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता को प्राप्त करेगा। सर्वज्ञ का ज्ञान तो अनन्त महिमावंत है ही, किन्तु जिसके ज्ञान में सर्वज्ञता का स्वरूप आ गया उसका ज्ञान भी कम महिमा वाला नहीं है, क्योंकि वह सर्वज्ञता प्राप्त करने का बीज है। सर्वज्ञता की श्रद्धा बिना, पर्याय में सर्वज्ञता प्रगट नहीं होती।

हे प्रभो ! आपको लोग विभिन्न नामों से पुकारते हैं, पर वे सभी नाम आपकी महानता को धारण करने में असमर्थ हैं। आपका विराट व्यक्तित्व उनमें समाता नहीं है।

[१] प्रवचनसार, गाथा ८०–८१

हे भगवन ! हम लोग आपको वर्द्धमान कहते हैं, पर वर्द्धमान तो उसे कहते हैं जो नित्य वृद्धिगत हो। आप तो पूर्णता को प्राप्त हो चुके हैं, अतः बढ़ने का प्रश्न ही नहीं रहा; बढ़ते तो अपूर्ण हैं।

इसी प्रकार आपको सन्मति भी कहा जाता है, पर आप तो केवलज्ञानी होने से मतिज्ञान से रहित हैं, फिर सन्मति कैसे हो सकते हो ? सन्मति और कुमति तो मतिज्ञान के भेद हैं। ऐसे ही वीर, अतिवीर और महावीर नाम से भी जिस भाव को लोक व्यक्त करता है; हे प्रभो ! आपका विराट व्यक्तित्व उन शब्दों में समाता नहीं है। आपके विराट व्यक्तित्व को व्यक्त करने वाले शब्द भाषा में हैं ही नहीं। ठीक ही है, आज तक क्या कोई ऐसा भी घड़ा बना है, जिसमें सागर समा जाये। सागर के समान आपका विराट् व्यक्तित्व भाषा रूपी गागर में नहीं आ सकता है।

हे प्रभो ! आपको ये नाम तब दिये गये थे, जब आप वीतराग-सर्वज्ञ नहीं थे। जिस प्रकार पांच वर्ष के बालक के लिए बनाए गये वस्त्र उसी बालक की २५ वर्षीय प्रौढ़ अवस्था में उसे ही नहीं पहिनाए जा सकते, वे उसकी विराटता अपने में नहीं समेट सकते हैं; उसी प्रकार आपके बचपन और अल्पज्ञ अवस्था में रखे गये नाम आपके वीतराग, सर्वज्ञ एवं हितोपदेशी वाले महान व्यक्तित्व को कैसे धारण कर सकते हैं ?

उक्त नाम तो आपकी अनन्त महिमा को व्यक्त करने में समर्थ हैं ही नहीं, मेरे पास भी ऐसे कोई शब्द नहीं हैं जिनके माध्यम से आपके गुणों का वर्णन किया जा सके। आपकी महिमा वचनातीत है, वह ज्ञानगम्य है, उसे जाना जा सकता है, कहा नहीं जा सकता।

हे प्रभो ! कुछ लोग कहते हैं कि वीतरागता और सर्वज्ञता संभव ही नहीं है, तब आप वीतरागी और सर्वज्ञ कैसे हो सकते हैं ? सामान्य सर्वज्ञसिद्धि बिना विशेष सर्वज्ञसिद्धि कैसे ? हे जिनेन्द्र ! वीतरागता-सर्वज्ञता असंभव नहीं है, क्योंकि दोष (रागादि) और आवरण (ज्ञानावरणादि) घटते-बढ़ते हैं। जो घटता-बढ़ता है वह एक समय समाप्त भी हो सकता है। वे दोष और आवरण आपके समाप्त हो गये हैं; अतः आप पूर्ण वीतराग और सर्वज्ञ हो गये हैं[१]।

---

[१] देवागम स्तोत्र (आप्तमीमांसा), श्लोक ४

हे जिनेन्द्र ! सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय भी अवश्य होंगे, क्योंकि वे अनुमान-ज्ञान के द्वारा जाने जाते हैं। जो अनुमान द्वारा जाने जाते हैं, वे किसी न किसी के प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय भी होते ही हैं। अतः सर्वज्ञता असंभव नहीं है[१]।

हे प्रभो ! वह सर्वज्ञता आप में प्रगट हो गई है। आपकी वाणी रूपी अमृत वर्षा का सब समुदाय उसी व्याकुलता से प्रतीक्षा कर रहा है जिस प्रकार आषाढ़ मास व्यतीत होने पर भी बरसात न होने पर, कृषक मेघ की प्रतीक्षा करते हैं। आषाढ़ मास समाप्त हो गया है। प्रभो ! अमृतवर्षा हो, यही सब की भावना है – जिसका पानकर जगत तत्त्व का मर्म समझ सके और आपकी प्रत्यक्षादि-प्रमाणों से अबाधित, अविरोधमयी वाणी से सर्वज्ञता का निर्णय कर आत्महित कर सके।

सब से सुखद आश्चर्य तो सब को यह हुआ कि इन्द्रभूति गौतम स्तुति में मग्न थे और वीर प्रभु की दिव्य-ध्वनि खिरने लगी थी। ऊँकार-ध्वनि प्रसारित हो रही थी, उसमें आत्मा का स्वरूप विशद रूप से प्रतिपादित हो रहा था। अमृत बरस रहा था। समस्त श्रोतागण आनन्द-मग्न हो उसमें सराबोर हो रहे थे। उनकी वही दशा हो रही थी जो दशा बहुत प्रतीक्षा के बाद अभीष्ट मेघ वर्षा होने पर कृषकों की होती है। वह सौभाग्यशाली दिन था श्रावण कृष्ण प्रतिपदा का। उस दिन भगवान का उपदेश आरंभ हुआ था। अतः आज भी सारे भारतवर्ष में उस दिन वीर-शासन जयन्ती मनाई जाती है।

इन्द्रभूति गौतम के साथ उनके शिष्यगण भी उनके साथ महावीर के मार्ग पर हो लिए थे। गौतम अपनी योग्यता से महावीर के प्रमुख शिष्य व प्रथम गणधर बने।

इन्द्र का मनोरथ सफल हो चुका था। चिरप्रतीक्षित भगवान की दिव्य-ध्वनि का आस्वादन सबको मिल चुका था। सावन में चतुर्दिक हरियाली देख जैसे जन-जन ही नहीं, समस्त प्राणी जगत प्रफुल्लित हो उठता है; उसी प्रकार प्रभु की दिव्य-वाणी को सुनकर समस्त प्राणीजगत हर्षायमान था। सबको इन्द्रभूति गौतम के प्रति विशेष

---

[१] देवागम स्तोत्र (आप्तमीमांसा), श्लोक ५

भक्ति उमड़ रही थी क्योंकि उनके शुभागमन पर प्रभु की वाणी खिरी थी, यही चर्चा सर्वत्र थी। इन्द्र भी गौतम के प्रति श्रद्धावनत था। उसने उनकी स्तुति करते हुए उनसे विनयपूर्वक कहा – हे गुरुदेव ! आपकी पावन कृपा का परिणाम है कि सबको वीर प्रभु की दिव्य-वाणी सुनने को मिल सकी।

गौतम बोले – देवराज ! आप कैसी बातें करते हो, इसमें मेरी क्या कृपा है ? मुझ पामर पर ही प्रभु की कृपा हुई है। कोई भी कार्य काललब्धि आने पर भवितव्यतानुसार ही होता है, उस काल में तदनुकूल पुरुषार्थपूर्वक उद्यम भी होता है तथा अनुकूल निमित्त भी उपस्थित रहता ही है। मेरे अभाव के कारण प्रभु की वाणी रुकी और मेरे आने के कारण खिरी, यह दोनों बातें मात्र उपचार से ही कही जा सकती हैं। वस्तुतः वाणी के खिरने का काल यही था, मेरे सद्धर्म की प्राप्ति का काल भी यही था। दोनों का सहज संयोग हो जाने पर यह उपचार से कहा जाने लगा।

इन्द्र ने प्रश्न को आगे बढ़ाते हुए कहा – फिर यह उपचार भी क्यों ?

गणधर देव ने गम्भीरता से कहा – तीर्थंकर भगवान महावीर से पूर्व भगवान आदिनाथ से पार्श्वनाथ तक सभी २३ तीर्थंकरों को केवलज्ञान की प्राप्ति होने और उनकी दिव्य-ध्वनि खिरने में काल का विशेष अन्तर न रहा था, किन्तु महावीर को केवलज्ञान तो बैसाख सुदी दशमी को हो गया और दिव्य-ध्वनि खिरी श्रावण बदी प्रतिपदा को। यह ६६ दिन का अन्तर अपूर्व सा लगा और उसके कारण की खोज हुई तो ऊपर से देखने पर मेरा आना, दिव्य-ध्वनि का खिरना और मेरा गणधर बनना – ये तीनों घटनाएँ सहज अपने-अपने कारण से करीब-करीब एक काल में घटित हुईं; तब यह सम्बन्ध बाहर से सहज जुड़ गया और ऐसा कहा जाने लगा।

इन्द्र ने कहा – तो क्या यह कहना झूठ है ?

गणधरदेव बोले – कौन कहता है झूठ है ? निमित्त की अपेक्षा कथन तो होता ही है, निमित्त से कार्य नहीं होता। प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वयं के कारण स्वयं से ही होता है, किसी का कर्त्ता अन्य को कहना मात्र उपचार ही है।

उक्त संदर्भ में कसाय पाहुड की जयधवला टीका में आचार्य वीरसेन स्वामी इस प्रकार लिखते हैं[1] :-

शंका – केवलज्ञान की उत्पत्ति के अनन्तर छयासठ दिन तक दिव्यध्वनि की प्रवृत्ति क्यों नहीं हुई ?

समाधान – गणधर न होने से उतने दिन तक दिव्यध्वनि की प्रवृत्ति नहीं हुई।

शंका – सौधर्म इन्द्र ने केवलज्ञान के प्राप्त होने के समय ही गणधर को क्यों नहीं उपस्थित किया ?

समाधान – नहीं, क्योंकि काललब्धि के बिना सौधर्म इन्द्र गणधर को उपस्थित करने में असमर्थ था, उसमें उस समय गणधर को उपस्थित करने की शक्ति नहीं थी।

शंका – जिसने अपने पादमूल में महाव्रत स्वीकार किया है ऐसे पुरुष को छोड़कर अन्य के निमित्त से दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरती है ?

समाधान – ऐसा ही स्वभाव है और स्वभाव दूसरों के द्वारा प्रश्न करने योग्य नहीं होता है, क्योंकि यदि स्वभाव ही में प्रश्न होने लगे तो कोई व्यवस्था ही न बन सकेगी।

उसके बाद भव्य जनों के प्रबल पुण्योदय से उनका विहार काशी, कश्मीर, कुरु, मगध, कौशल, कामरूप, कच्छ, कलिंग, कुरुजांगल, किष्किंधा, मल्लदेश, पांचाल, केरल, भद्र, चेदि, दशार्ण, वंग, अंग, आन्ध्र, कुशीनगर, मलय, विदर्भ, गौण आदि अनेक स्थानों पर हुआ[2]।

---

[1] कसाय पाहुड, पृष्ठ ७६

[2] काश्यां काश्मीरदेशे कुरुषु च मगधे कौशले कामरूपे
कच्छे काले कलिंगे जनपदमहिते जांगलान्ते कुरादौ।
किष्किन्धे मल्लदेशे सुकृतिजनमनस्तोषदे धर्मवृष्टि
कुर्वन् शास्ता जिनेन्द्रो विहरति नियतं तं यजेऽहं त्रिकालम् ॥
पांचाले केरले वाऽमृतपदमिहिरोभद्र चेदि दशार्ण –
वंगांगान्ध्रोलिकोशीनगर मलयविदर्भेषु गौडे सुसह्ये
शीतांशू रश्मिजालादमृतमिव सभां धर्मपीयूषधारा
सिंचन् योगभिरामः परिणमयति च स्वान्तशुद्धिं जनानाम् ॥
– प्रतिष्ठापाठ ६/६ पृ० (तीर्थंकर वर्द्धमान, पृष्ठ ६७)

इस प्रकार तीर्थंकर भगवान महावीर का सम्पूर्ण भारतवर्ष में लगभग तीस वर्ष तक धर्मोपदेश व विहार होता रहा। उनके विहार की अधिकता के कारण भारत का एक बहुत बड़ा भू-भाग ही 'बिहार' के नाम से जाना जाने लगा। बिहार प्रान्त के कई बड़े-बड़े नगर उनके नाम पर बसे। जिला-स्थल वर्द्धमान, वीरभूमि उनके नाम पर ही बसे नगर हैं। उनके चिह्न के नाम पर भी सिंहभूमि नगर बसा है।

उनका विहार जहाँ भी होता, वहाँ उनका उपदेश प्रतिदिन प्रातः, दोपहर और सायं तीन बार छः-छः घड़ी होता था। जिस प्रकार सूर्योदय होने पर रात्रिकालीन गहन अंधकार स्वतः विलीन हो जाता है, उसी प्रकार वीर प्रभु के दिव्योपदेश द्वारा जन-जन के मन में व्याप्त विकार और अज्ञान-अन्धकार विलीन होने लगा। जहाँ भी उनका विहार और उपदेश होता वहाँ के राजा-प्रजा सभी प्रभावित होते और हजारों लोग उनके भक्त और अनुयायी बन जाते। प्रतिदिन हजारों लोग सद्ज्ञान प्राप्त करते, सैकड़ों व्रत धारण करते तथा एकदम आध्यात्मिक वातावरण बन जाता था।

उनके उपदेशों के प्रभाव से समस्त देश का वातावरण अहिंसामय हो गया। धर्म के नाम पर चलने वाली हिंसा, आडम्बर, गुरुडम और पाखण्ड स्वयं खण्डित हो गये। यद्यपि उनके उपदेश में गम्भीर तत्त्वों का प्रतिपादन होता था, गूढ़ रहस्यों को समझाया जाता था, तथापि उनका उपदेश इस प्रकार होता था कि सब अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते थे। उनके उपदेश को दिव्य-ध्वनि कहा जाता है।

दिव्य-ध्वनि में स्वभावगत स्वतन्त्रता की घोषणा के साथ-साथ पर्याय में पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए स्वावलम्बन का मार्ग बताया गया। रंग-राग और भेद से भिन्न निज शुद्धात्मा पर दृष्टि केन्द्रित करना ही स्वावलम्बन है। स्वतन्त्रता अपने बल पर ही प्राप्त की जा सकती है। अनन्त सुख और स्वतन्त्रता भीख में प्राप्त होने वाली वस्तुएं नहीं हैं और न उन्हें दूसरों के बल पर ही प्राप्त किया जा सकता है।

भगवान महावीर की वाणी में जो कुछ आया वह कोई नया सत्य नहीं था। सत्य में नये-पुराने का भेद कैसा? उन्होंने जो कुछ कहा वह सदा से है, सनातन है। उन्होंने सत्य की स्थापना नहीं, उद्घाटन किया है।

उनके द्वारा जिस त्रैकालिक सत्य का उद्घाटन हुआ, उनकी वाणी में जिस सर्वोदय तीर्थ का प्रस्फुटन हुआ, उसका विस्तृत विवेचन इसी ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में किया जा रहा है। उनके उपदेश का संक्षिप्त सार इस प्रकार है:–

- प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है। कोई किसी के आधीन नहीं है।
- सब आत्माएँ समान हैं। कोई छोटा-बड़ा नहीं।
- प्रत्येक आत्मा अनन्तज्ञान और सुखमय है। सुख कहीं बाहर से नहीं आता है।
- आत्मा ही नहीं, प्रत्येक पदार्थ स्वयं परिणमनशील है। उसके परिणमन में पर-पदार्थ का कोई हस्तक्षेप नहीं है।
- सब जीव अपनी भूल से ही दु:खी हैं और स्वयं अपनी भूल सुधारकर सुखी हो सकते हैं।
- अपने को नहीं पहचानना ही सबसे बड़ी भूल है तथा अपना सही स्वरूप समझना ही अपनी भूल सुधारना है।
- भगवान कोई अलग नहीं होते। यदि सही दिशा में पुरुषार्थ करे तो प्रत्येक जीव भगवान बन सकता है।
- स्वयं को जानो, स्वयं को पहचानो, और स्वयं में समा जावो; भगवान बन जावोगे।
- भगवान जगत का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं। वह तो समस्त जगत का मात्र ज्ञाता-दृष्टा होता है।
- जो समस्त जगत को जानकर उससे पूर्ण अलिप्त वीतराग रह सके अथवा पूर्ण रूप से प्रभावित रहकर जान सके, वही भगवान है।

इन्द्रभूति गौतम के अतिरिक्त उनके दश गणधर और थे। जिनके नाम इस प्रकार है :-

१. अग्निभूति २. वायुभूति ३. शुचिदत्त ४. सुधर्म ५. मानुष्य ६. मौर्यपुत्र ७. अकम्पन ८. अचल ९. मेदार्य और १०. प्रयास[1]।

श्रावक शिष्यों में मगध सम्राट महाराजा श्रेणिक बिम्बसार प्रमुख थे। उनके कर्मठ शिष्य-परिवार में चौदह हजार साधु, छत्तीस हजार आर्यिकाएँ, एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ थीं। वैसे उनके अनुयायियों की संख्या तो अगणित थी।

अंत में विहार करते हुए भगवान महावीर पावापुर पहुँचे। वहाँ उन्होंने विहार और उपदेश से विराम ले, योग-निरोधकर, शुक्लध्यान की चरमावस्था में आरूढ़ हो, कर्मों के अवशेष चार अघातिया कर्मों का भी अभाव कर, अन्तिम देह का पूर्णतः परित्याग कर निर्वाण पद प्राप्त किया।

यह घटना ठीक पच्चीससौ वर्ष पूर्व की है। कार्तिक की श्याम अमावस्या थी, रात्रि घने अन्धकार में डूबी थी। प्रभात होने में कुछ ही समय शेष था। भुवन भास्कर की प्रथम किरण गिरि-शिखरों पर भी प्रस्फुटित न होने पाई थी कि वीर प्रभु का निर्वाण हो गया।

प्रभु के निर्वाण का समाचार पा देवों ने आकर महान उत्सव किया, जिसे निर्वाणोत्सव कहते हैं। पावानगरी प्रकाश से जगमगा गई। जैसे काली नागिन किसी को डसकर उलट जाती है तो उसका काला भाग

---

[1] इन्द्रभूतिरिति प्रोक्तः प्रथमो गणधारिणाम्।
अग्निभूतिर्द्वितीयश्च वायुभूतिस्तृतीयकः ।।४१।।
शुचिदत्तस्तुरीयस्तु सुधर्मः पञ्चमस्ततः।
षष्ठो मानुष्य इत्युक्तो मौर्यपुत्रस्तु सप्तमः ।।४२।।
अष्टमोऽकम्पनाख्यातिरचलो नवमो मतः।
मेदार्यो दशमोऽन्त्यस्तु प्रभासः सर्व एव ते ।।४३।।

— हरिवंश पुराण/३/४१-४३

नीचे दब जाता है और नीचे का शुभ्र भाग ऊपर आ जाता है, उसी प्रकार मानो काली रात्रि रूपी नागिन ने वीर प्रभु को हमसे छीन लिया है, डस लिया है; अतः मानो वही उलटकर प्रकाशमयी हो गई है।

समझ में नहीं आता – इस दीपावली को प्रकाश का पर्व कहें या अंधकार का, इसने हमारे वीर प्रभु को हम से छीन लिया है। पर उन्हें निर्वाण प्राप्त हुआ था, अतः लोग शोकमग्न होकर भी हर्षित थे। सब की दशा अपनी प्रिय पुत्री को सुयोग्य वर के साथ विदा करने वाली ममतामयी माँ जैसी हो रही थी। हर्षमय शोक और शोकमय हर्ष के इस पावन प्रसंग का वर्णन शब्दों में अवर्णनीय है।

तीर्थंकर भगवान महावीर का प्रातः निर्वाण हुआ और उसी दिन सायंकाल उनके प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति गौतम गणधर को पूर्णज्ञान (केवलज्ञान) की प्राप्ति हुई। इस कारण यह दिन द्विगुणित महिमावंत हो गया। भगवान महावीर के वियोग से दुःखी धर्म-प्रजा को केवली गौतम को पा कुछ आश्वासन मिला। शोकाकुल जनता का शोक कुछ कम हुआ।

दीपावली का महान पर्व भगवान महावीर के निर्वाणोत्सव एवं गौतम गणधर के केवलज्ञान-कल्याणक के रूप में मनाया जाता है। भगवान महावीर के निर्वाण दिन से एक संवत् भी चला जिसे वीर निर्वाण संवत् कहते हैं, जो आज भी जैनियों में अत्यधिक प्रचलित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तीर्थंकर भगवान महावीर के वर्तमान भव में उतनी विविधता और उतार-चढ़ाव नहीं हैं, जितने कि उनके पूर्व भवों में पाये जाते हैं। उनके वर्तमान भव में उनके आध्यात्मिक जीवन का उत्तरोतर क्रमशः विकास स्पष्ट परिलक्षित होता है।

जन्म से आत्मज्ञानी बालक वर्द्धमान को हम बचपन से ही धीर-गंभीर और आत्मनिष्ठ पाते हैं। राज-काज आदि लौकिक कार्यों में उनकी रुचि ही न थी। बाह्य जगत से एकदम कटे हुए से राजकुमार वर्द्धमान अपने अन्तर्जगत में ही मग्न रहते थे। न उन्हें वैभव से लगाव था, न विषय-भोगों का ही चाव।

यद्यपि वे तीस वर्ष तक घर में रहे, पर रहे न रहे बराबर। उनका मन घर में कभी लगा ही नहीं। यौवन उनके भी आया था, पर उनके जीनव में यौवनायें न आ सकीं, क्योंकि उनमें योनैषणा ही न थी। उनको यौवन से कोई आकर्षण न था, तभी तो तीसवर्षीय भरे यौवन में विरागी बन, वीतरागी बनने वन को चल पड़े तथा मौन हो गये। वे गये तो गये फिर लौटे ही नहीं, मौन हुए तो हुए, फिर किसी से तब तक बोले ही नहीं, जब तक कि अपना प्राप्तव्य न पा लिया।

जब वे पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ हो गये तब उनकी वाणी प्रस्फुटित हुई। वीर हिमाचल से पावन जिनवाणी गंगा प्रवाहित हुई तो तीस वर्ष तक बहती रही। गौतम गणधर आदि अनेकों ने उसमें निमज्जन कर, निमग्न हो, अपूर्व शान्ति और आनन्द प्राप्त किया।

सर्व हितकारी उनका हितोपदेश एक तीर्थ बन गया। वे स्वयं तो तिरे ही, उनके पावन उपदेश से लाखों और भी भव-सागर से पार उतरे, उतरने का मार्ग पा गये। सर्वोदय तीर्थ का प्रचार व प्रसार कर वे अपने तीर्थंकर होने को सार्थक कर गये।

जब वे गये तब अमावस्या की रात्रि भी प्रकाशमय हो गई और २५०० वर्षों से आज तक लगातार एक वही कार्तिकी अमावस्या—काली होकर भी जगमगाती है, प्रकाशमय हो जाती है। उस दिन दीपों की आवलियाँ जगमगा उठती हैं, अतः यह महान पर्व दीपावली के नाम से विख्यात है।

दीपावली अंधकार में प्रकाश का पर्व है।

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥

तू थाप निज को मोक्षपथ में, ध्या, अनुभव तू उसे।
उसमें हि नित्य विहार कर, न विहार कर परद्रव्य में ॥

हे भव्य ! मोक्षमार्ग में अपने आत्मा को स्थापित कर, उसी का ध्यान कर, उसी को चेत – अनुभव कर और उसी में निरन्तर विहार कर; अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।

– आचार्यकुन्दकुन्द : समयसार, गाथा ४१२

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः

द्वितीय खण्ड

सर्वोदय तीर्थ

जिनके विमल उपदेश में,
सबके उदय की बात है।
समभाव समताभाव जिनका,
जगत् में विख्यात है॥

जिसने बताया जगत को,
प्रत्येक कण स्वाधीन है।
कर्ता न धर्ता कोइ है,
अणु अणु स्वयं में लीन है॥

आतम बने परमात्मा,
हो शान्ति सारे देश में।
है देशना-सर्वोदयी,
महावीर के संदेश में॥

सर्वोदय तीर्थ

तीर्थंकर भगवान महावीर का तीर्थ सर्वोदय तीर्थ है। उसे उन्होंने किसी गिरि-शिखर पर या नदी के किनारे खड़ा नहीं किया था। उनका उपदेश ही उनका तीर्थ है, उनकी वाणी ही तीर्थ है और वे हैं तीर्थंकर। उन्होंने वस्तु के जिस अनेकान्तात्मक सर्वोदय स्वरूप का प्रतिपादन किया है उसमें वस्तु-स्वातन्त्र्य को सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उनकी दिव्य-वाणी में मात्र जन-जन की स्वतंत्रता की ही घोषणा नहीं हुई, अपितु कण-कण की स्वतंत्रता का घोषनाद हुआ है।

विश्व का प्रत्येक पदार्थ पूर्ण स्वतंत्र है, वह अपने परिणमन का कर्त्ता-हर्त्ता स्वयं है, उसके परिणमन में पर का हस्तक्षेप रंचमात्र भी नहीं है।

कर्त्तावाद का उन्होंने स्पष्ट निषेध किया है। कर्त्तावाद के निषेध से उनका तात्पर्य मात्र इतना ही नहीं है कि कोई शक्तिमान ईश्वर जगत का कर्त्ता नहीं है, अपितु यह भी है कि कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है। किसी एक महान शक्ति को समस्त जगत का कर्त्ता-हर्त्ता मानना एक कर्त्तावाद है, तो परस्पर एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता मानना अनेक कर्त्तावाद है।

यह विश्व अनादि-अनन्त है, इसे न तो किसी ने बनाया है और न ही कोई इसका विनाश कर सकता है, यह स्वयंसिद्ध है। विश्व का कभी सर्वथा नाश नहीं होता है, मात्र परिवर्तन होता है; वह परिवर्तन कभी-कभी नहीं, निरन्तर हुआ करता है।

यह समस्त जगत परिवर्तनशील होकर भी नित्य है और नित्य होकर भी परिवर्तनशील है। यह नित्यानित्यात्मक है, इसकी नित्यता स्वतःसिद्ध है और परिवर्तन इसका स्वभावगत धर्म है। नित्यता के समान अनित्यता भी वस्तु का स्वरूप है। प्रत्येक वस्तु सत् स्वरूप है। सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त होता है[1]। उत्पाद और व्यय परिवर्तनशीलता का नाम है और ध्रौव्य नित्यता का। प्रत्येक पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त है, अतः वह द्रव्य है। द्रव्य गुण और पर्यायवान होता है[2]। जो द्रव्य के सम्पूर्ण भागों और समस्त पर्यायों में रहे उसे गुण कहते हैं तथा गुणों के परिणमन को पर्याय कहा जाता है।

षट् द्रव्य

यह विश्व पृथक् से और कुछ नहीं है, छह द्रव्यों के समुदाय को ही विश्व कहते हैं[3]। वे छः द्रव्य हैं – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जीव को छोड़कर बाकी पांच द्रव्य अजीव हैं। इस तरह यह सारा जगत् चिदचिदात्मक है। जीव द्रव्य अनन्त हैं और पुद्गल द्रव्य उनसे भी अनन्त गुणे हैं। धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक हैं[4]। काल द्रव्य असंख्यात हैं[5]।

ज्ञान-दर्शन-स्वभावी आत्मा को जीव द्रव्य कहते हैं[6]। जिसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण पाया जाय वह पुद्गल है[7]। जितना इन्द्रियों के माध्यम से दृश्यमान जगत् है वह सब पुद्गल का ही परिणमन है, अतः पुद्गल ही है। स्वयं चलते हुए जीवों और पुद्गलों को गमन में जो सहकारी (निमित्त) कारण है, वह धर्म द्रव्य है। गतिपूर्वक स्थिति करने वाले जीवों और पुद्गलों की स्थिति में जो

---

[1] उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। –तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, सूत्र ३०

[2] गुणपर्ययवद् द्रव्यम्। –तत्वार्थसूत्र, अ० ५, सूत्र ३८

[3] द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा ३९

[4] आ आकाशादेकद्रव्याणि। –तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, सूत्र ६

[5] ते कालाणू असंखदव्वाणि। –द्रव्यसंग्रह, गाथा २२

[6] उपयोगो लक्षणम्। स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः। –तत्त्वार्थसूत्र, अ० २, सूत्र ८–९

[7] स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः। –तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, सूत्र २३

सहकारी (निमित्त) कारण है, वह अधर्म द्रव्य है। समस्त द्रव्यों के अवगाहन में आकाश द्रव्य और परिवर्तन में काल द्रव्य निमित्त है[1]।

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य का वर्णन एकमात्र जैन दर्शन में ही है, अन्य दर्शनों में नहीं। लोक में धर्म-अधर्म शब्द दर्शन, मत, सिद्धान्त, आचार, पुण्य-पाप आदि के अर्थ में प्रचलित हैं; परन्तु उन अर्थों से यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। ये दोनों स्वतंत्र द्रव्य हैं, जो सम्पूर्ण लोक में तिल में तेल की भांति व्याप्त हैं। जैन दर्शन में धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यों का प्रतिपादन जीव और पुद्गल के अनुपात में बहुत कम हुआ है। कारण कि जैन तत्त्व के प्रतिपादन और उपदेश का मुख्य उद्देश्य सुख की प्राप्ति और दुख का नाश रहा है।

प्रसिद्ध जैनाचार्य समन्तभद्र ने धर्म की परिभाषा स्पष्ट करते हुए कहा है :- "जो प्राणियों को संसार दुःख से निकालकर उत्तम सुख में पहुँचा दे, वही धर्म है[2]।"

प्रतिपादन का केन्द्र बिन्दु

संसार में जितने जीव हैं वे सब सुख चाहते हैं और दुख से डरते हैं। यही कारण है कि समस्त तीर्थंकरों ने दुःख को हरने वाला और सुख को करने वाला सदुपदेश ही दिया है। तीर्थंकर महावीर के उपदेशों का उद्देश्य भी आधि, व्याधि और उपाधिरूप त्रिविध ताप से संतप्त प्राणियों को मुक्ति का मार्ग बताना था। मुक्ति का मार्ग अर्थात् दुःखों से मुक्ति का उपाय, विकारों से मुक्ति का उपाय। अतः जिनवाणी में जितना और जो भी कथन है वह सब इसी दृष्टिकोण से है। षट् द्रव्य, सप्त तत्त्व, नव पदार्थरूप जो भी कथन है वह दुख, दुख के कारणों, सुख और सुख के कारणों को ध्यान में रखकर ही किया गया है।

षट् द्रव्यों में जीव को छोड़कर पांच अजीव द्रव्य तो न दुखी हैं और न कभी उनके सुखी होने का ही सवाल है क्योंकि उनमें चेतनता ही नहीं है। सुख-दुःख चेतन को ही होते हैं क्योंकि वे चेतन

---

[1] (क) द्रव्यसंग्रह, गाथा १७ से २१; (ख) प्रवचनसार, गाथा १३३-३४

[2] संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे। रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक २

की ही अनुभूतियाँ हैं। पांच अजीव द्रव्य अचेतन होने से समझते भी नहीं हैं, अतः उन्हें समझाने का प्रश्न भी नहीं है, उन्हें समझना भी नहीं है, क्योंकि समझ तो सुखी होने के लिए चाहिए, उन्हें सुखी होने का प्रश्न ही नहीं है। समझना संसारी जीवों को है, क्योंकि वे दुःखी हैं और उन्हें सुखी होना है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य इस जीव के लिए न तो दुःख के कारण ही हैं और न सुख के। यही कारण है कि इनका प्रतिपादन अत्यन्त संक्षेप में हुआ है।

पुद्गल द्रव्य तेईस प्रकार का होता है, किन्तु पांच प्रकार की पुद्गल वर्गणाओं का संयोग ही जीव के साथ होता देखा जाता है। वे पांच प्रकार हैं – आहार वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनो वर्गणा, तैजस वर्गणा और कार्माण वर्गणा। जिनागम में संसारी आत्मा से एक क्षेत्रावगाह रूप से संबंध रखने वाले पांच प्रकार के शरीरों का वर्णन है– औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण। इनमें से औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीर आहार वर्गणा से बनते हैं। तैजस वर्गणा से तैजस शरीर और कार्माण वर्गणा से कार्माण शरीर निर्मित होता है। मनो वर्गणा से मन का निर्माण होता है और भाषा वर्गणा शब्दरूप परिणमित होकर भाषा का रूप लेती है। अतः पुद्गल का जो वर्णन जिनागम में मिलता है, उसमें सर्वाधिक वर्णन उक्त पांच प्रकार के पुद्गलों का ही होता है।

भगवान महावीर के उपदेशों का केन्द्र बिन्दु आत्मा है, अतः आत्म-तत्त्व के प्रतिपादन के लिए पर-द्रव्यों का जितना और जो कथन आवश्यक है उतना और वही कथन उनकी वाणी में मुख्य रूप से आया। जीव का प्रतिपादन तो जीव के समझने के लिए है ही, किन्तु अजीव द्रव्यों का प्रतिपादन भी जीव (आत्मा) को समझने के लिए ही है[१], क्योंकि आत्मा का हित तो आत्मा के जानने में है। पर को मात्र जानना है और जीव को जानकर उसमें जमना है, रमना है। पर को जानकर उससे हटना है और जीव को, स्वजीव को जानकर उसमें डटना है। पर को जानकर उसे छोड़ना है और स्व को जानकर उसे पकड़ना है, जकड़ना है।

---

[१] बृहद् नयचक्र, गाथा २८४ में उद्धृत

तीर्थंकर महावीर की प्रतिपादन शैली की यह मुख्य पकड़ है। इसे जाने बिना उनके प्रतिपादन के निष्कर्ष बिन्दु को पकड़ पाना संभव नहीं है।

कर्म

पुद्गल की पांच प्रकार की वर्गणाओं में जो कार्माण वर्गणा है, वह आत्मा में उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भावों का निमित्त पाकर स्वयं कर्मरूप परिणमित हो जाती है[1]। कार्माण वर्गणा के उस कर्मरूप परिणमन को द्रव्य कर्म कहते हैं। वे आठ प्रकार के होते हैं – ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय[2]। इनके भी अवान्तर भेद १४८ होते हैं – जिनका विस्तृत वर्णन गोम्मटसार कर्मकाण्ड, तत्त्वार्थ सूत्र आदि ग्रन्थों में उपलब्ध है।

आत्मा में उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भावों को भाव कर्म कहते हैं। इस प्रकार कर्म मूलतः द्रव्य कर्म और भाव कर्म के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

जीव और पुद्गल (कर्म – नोकर्म) अनादि काल से एकमेक से हो रहे हैं[3]। ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म (पुद्गल कर्म) के उदय में जीव के मोह-राग-द्वेष (भाव कर्म) होते हैं और मोह-राग-द्वेष आदि भाव होने पर आत्मा से द्रव्य कर्मों का सम्बन्ध होता है। द्रव्य कर्म जहाँ एक ओर भाव कर्म के लिए निमित्त बनते हैं, वहीं दूसरी ओर नोकर्म के संयोग के कारण (निमित्त) भी बनते हैं। नोकर्म स्थूल देहादि संयोगी पदार्थों को कहा जाता है।

इस तरह मोह-राग-द्वेष भाव कर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म एवं देहादि नोकर्म की स्थिति बनती रहती है और आत्मा दुःखी हुआ करता है। जीव की इस दुःखावस्था का नाम ही संसार है। इनसे मुक्त होने का नाम है मोक्ष और मुक्त होने के उपाय को कहते हैं मोक्षमार्ग।

---

[1] जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥
– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक १२

[2] गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ८

[3] वही, गाथा २

तीर्थंकर महावीर की दिव्य-वाणी का एकमात्र प्रतिपाद्य उक्त मोक्षमार्ग ही है। उनकी वाणी में इसके अतिरिक्त और कुछ खोजना व्यर्थ है।

धर्म तीर्थ

उनका उक्त उपदेश ही उनका धर्म तीर्थ है, जिसे आचार्य समन्तभद्र ने 'सर्वोदय तीर्थ' कहा है[1]। सबका उदय ही सर्वोदय है अर्थात् जिसमें सबको उन्नति के समान अवसर प्राप्त हों, प्रत्येक व्यक्ति सर्वोच्च पद प्राप्त कर सके, सबको पूर्ण सुखी और ज्ञानी होने का पूर्ण अधिकार हो, वही सिद्धान्त सर्वोदय है। इस अर्थ में तीर्थंकर महावीर द्वारा प्रतिपादित एवं अनादिकाल से समागत जिनसिद्धान्त वास्तविक सर्वोदय तीर्थ है, क्योंकि उसमें परमपद भी किसी व्यक्ति विशेष (ईश्वर) को सुरक्षित नहीं है। कोई भी आत्मा जिनागम में बताये मुक्तिमार्ग पर चलकर परमात्मा बन सकता है, परमपद प्राप्त कर सकता है।

सर्वजीव समभाव जैसा जिनागम में प्रतिपादित है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। समानता ही सर्वोदय का मूल आधार है। महावीर की वाणी में स्वतंत्रता के साथ समानता को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उनके सर्वोदय तीर्थ के वस्तु-स्वातन्त्र्य और समानता, ये दो प्रबल दीप-स्तम्भ हैं जिन पर स्याद्वाद शैली में अभिव्यक्त अनेकान्तात्मक वस्तु-स्वरूप सूर्य और चन्द्रमा की भांति प्रकाशित हो रहा है और अहिंसात्मक आचरण की पावन गंगा में प्रवाहित होकर अपरिग्रह के आनन्द-सागर में लहरा रहा है।

तीर्थंकर भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्मतीर्थ अर्थात् मुक्ति का मार्ग क्या है ? – यही इस खण्ड का मूल प्रतिपाद्य है।

---

[1] सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं, सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वाऽऽपदामन्तकरं निरन्तं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥

– युक्त्यनुशासन, श्लोक ६१

धर्म क्या है ?

वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। जिस वस्तु का जो स्वभाव है, वही उसका धर्म है। शाब्दिक व्युत्पत्ति के अनुसार जो धारण करता है अथवा जिसके द्वारा धारण किया जाता है वह धर्म है। प्रत्येक वस्तु को उसका स्वभाव ही धारण करता है अथवा प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव को ही धारण करती है; अतः वह स्वभाव ही उस वस्तु का धर्म है।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, श्रद्धा, सुख आदि अनंत गुणों का पिण्ड ही आत्मा है, वे ही आत्मा को धारण करते हैं अथवा आत्मा ही उन्हें धारण करता है; अतः वे ही आत्म-धर्म हैं। इसी प्रकार स्पर्श, रस, गंध, वर्णादि पुद्गल के गुण हैं, वे ही उसे धारण करते हैं अथवा पुद्गल ही उन्हें धारण करता है; अतः वे ही पुद्गल के धर्म हैं।

गुणों के साथ गुणों का परिणमन भी वस्तु का स्वभाव है। वह परिणमन दो प्रकार का देखा जाता है। स्वभाव के अनुकूल परिणमन को स्वभाव पर्याय और प्रतिकूल परिणमन को विभाव पर्याय कहते हैं। वस्तु का स्वभाव तो धर्म है ही, स्वभाव के अनुकूल परिणमन होने से स्वभाव पर्याय को भी धर्म कहते हैं।

चूंकि यहाँ आत्मा को सुख-शांति प्राप्त कराने वाले धर्म की ही चर्चा अपेक्षित है, अतः महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म मात्र 'धर्म' नहीं, 'आत्म-धर्म' है; जो मोक्ष का मार्ग है, दुःखों से छूटने का उपाय है। वस्तु का त्रिकाली स्वभाव तो सदा विद्यमान ही है, उसे क्या छोड़ना और क्या पाना ? उसे तो जानना है, समझना है। अज्ञानी आत्मा ने आज तक उसे समझा नहीं, उसकी श्रद्धा नहीं की, उसका अनुभव नहीं किया।

आत्म-स्वभाव का साक्षात्कार करना ही एक मात्र कर्त्तव्य है। स्वभाव के साक्षात्कार से, आश्रय से, जो स्वभाव पर्याय प्रगट होती है; वही प्राप्तव्य धर्म है, उसे ही पाना है। वह रत्नत्रय स्वरूप है। आत्मा का स्वभाव मूलतः आत्म-धर्म है और उसके सन्मुख होकर मानना, जानना, और उसी में रम जाना, जम जाना, समा जाना, स्वभाव पर्यायरूप धर्म है; जिसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहते हैं; रत्नत्रय धर्म कहते हैं; मुक्ति का मार्ग कहते हैं।

आचार्य उमास्वामी महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में लिखते हैं :–

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" ।१।१।। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों की एकरूपता ही मुक्ति का मार्ग है।

इसी को धर्म घोषित करते हुए आचार्य समन्तभद्र कहते हैं :–

"सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि, धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।
यदीयप्रत्यनीकानि, भवन्ति भवपद्धतिः[1] ।।

धर्म के ईश्वर तीर्थंकर देव कहते हैं – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही धर्म है और इसके विपरीत संसार-दुःखों को बढ़ाने वाले मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र अधर्म हैं।

श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र आत्मा के गुण हैं। इनका स्वभाव-परिणमन क्रमशः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। स्वभाव के अनुकूल परिणमन होने से वे धर्म हैं, सुख के कारण हैं और सुखरूप हैं। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र क्रमशः उन्हीं गुणों के विभाव परिणमन हैं; अतः वे अधर्म हैं, दुःखरूप हैं और दुःख के कारण हैं।

आत्मा अथवा सप्त-तत्त्व सम्बन्धी विपरीत मान्यता (श्रद्धा) को मिथ्यादर्शन, विपरीत ज्ञान को मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान से युक्त, कषाय एवं विषयरूप प्रवृत्ति को मिथ्याचारित्र कहते हैं।

ध्यान रहे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों पृथक्-पृथक् मुक्ति के मार्ग नहीं हैं, वरन् तीनों की एकता ही मुक्ति का मार्ग है। मुक्ति के मार्ग तीन नहीं, एक है, और वह तीनों की एकतारूप ही है। ये तीनों आत्म-स्वरूप ही हैं, क्योंकि आत्म-स्वरूप का निश्चय करना सम्यग्दर्शन, आत्म-स्वरूप का परिज्ञान करना सम्यग्ज्ञान और आत्म-स्वरूप में लीन होना ही सम्यक्चारित्र है[2]।

---

[1] रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ३

[2] दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः ।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ।।
– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २१६

सम्यग्दर्शन

जीवादि तत्त्वार्थों का सच्चा श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है[१]। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्वार्थ हैं[२]। इन सातों को तत्त्व भी कहते हैं और अर्थ भी कहते हैं, अतः इन्हें यहाँ तत्त्वार्थ कहा गया है। यहाँ 'तत्त्व' शब्द भाववाची है और 'अर्थ' वस्तुवाची। वस्तु और भाव दोनों का श्रद्धान अपेक्षित होने से दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है। कहीं-कहीं पुण्य और पाप को मिलाकर नौ तत्त्वार्थ भी कहे जाते हैं[३]। जहाँ इनका पृथक् उल्लेख नहीं किया जाता है वहाँ उन्हें आस्रव-बंध में सम्मिलित कर लिया जाता है।

सम्यग्दर्शन में 'दर्शन' श्रद्धान के अर्थ में प्रयुक्त है और 'सम्यक्' पद विपरीताभिनिवेश (उल्टा अभिप्राय) के निषेध के लिए है। अतः विपरीताभिनिवेश रहित जीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन कहलाता है[४]।

उक्त परिभाषा के अतिरिक्त सम्यग्दर्शन को समझाने के लिए जिनागम में विभिन्न स्थानों पर निम्न परिभाषाएँ भी मिलती हैं :-

(१) सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है[५]।
(२) स्वपर-भेदविज्ञान ही सम्यग्दर्शन है[६]।
(३) आत्म-श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है[७]।

---

[१] तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। – तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सूत्र २

[२] जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्। – तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सूत्र ४

[३] जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं।
संवरणिज्जरबंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा ॥ – पंचास्तिकाय, गाथा १०८

[४] जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश विविक्तमात्मरूपं तत् ॥
– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २२

[५] श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥ –रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ४

[६] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ३२५

[७] (क) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २१६
(ख) अष्टपाहुड़ (दर्शनपाहुड़), गाथा २०

यद्यपि उक्त परिभाषाएँ ऊपर से देखनें पर अलग-अलग प्रतीत होती हैं, किंतु गहराई से विचार करने पर सभी का एक ही अभिप्राय है। ये विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अनुयोगों की कथन-पद्धति एवम् प्रकरण के अनुसार कही गई हैं। आचार्यकल्प पंडितप्रवर टोडरमलजी ने इन सब पर विस्तार से विचार कर इनका प्रयोजन स्पष्ट करते हुए इनमें सयुक्ति समन्वय स्थापित किया है[1]।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए जीवादि सप्त या नव तत्त्वार्थों और देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप का सच्चा ज्ञान और श्रद्धान आवश्यक है। साथ ही स्वपर-भेदविज्ञानपूर्वक आत्मानुभूति भी अत्यन्त आवश्यक है। सम्यग्दर्शन के विभिन्न लक्षण इन्हीं में से एक को मुख्य व अन्यों को गौण करके बनाये गये हैं। प्रत्येक लक्षण में यद्यपि कोई एक को मुख्य रूप से लिया गया है तथापि उसमें गौण रूप से अन्य सभी आ जाते हैं, क्योंकि वे सभी परस्पर अनुस्यूत हैं। जैसे – सप्त तत्त्वों में देव-शास्त्र-गुरु इस प्रकार गर्भित हो जाते हैं :– मोक्ष तत्त्व को प्राप्त आत्मा ही देव एवं संवर-निर्जरा तत्त्व को प्राप्त आत्मा ही गुरु है तथा देव और गुरु की वाणी ही शास्त्र है, अतः सप्त तत्त्वों का सही स्वरूप जानने पर देव-शास्त्र-गुरु का ज्ञान हो जाता है। उसी प्रकार सप्त तत्त्वों में आत्म-तत्त्व आ ही जाता है, अतः स्वपर-भेदविज्ञान और आत्मानुभूति भी गर्भित हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्य परिभाषाओं में घटित किया जा सकता है।

मुक्ति के मार्ग में सम्यग्दर्शन का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यह मुक्तिमहल की प्रथम सीढ़ी है, इसके बिना ज्ञान और चारित्र का सम्यक् होना सम्भव नहीं है[2]। जिस प्रकार बीज के बिना वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलागम सम्भव नहीं है; उसी प्रकार

---

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ३२५–३२

[2] मोक्षमहल की परथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चरित्रा।
सम्यक्ता न लहै, सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा।।
– छहढाला, तृतीय ढाल, छन्द १७

सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलागम (मोक्ष) होना सम्भव नहीं है[1]। सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है, जो इससे भ्रष्ट है वह भ्रष्ट ही है, उसको मुक्ति की प्राप्ति संभव नहीं है[2]।

अधिक क्या कहें? जो महान पुरुष अतीतकाल में मोक्ष गये हैं और भविष्य में जाएंगे, वह सब सम्यग्दर्शन का ही माहात्म्य है[3]। अतः यह ठीक ही कहा गया है कि – "प्राणियों को इस जगत में सम्यग्दर्शन के समान हितकारी और मिथ्यादर्शन के समान अहितकारी कोई अन्य नहीं है"[4]।

जीव तत्त्व

ज्ञान-दर्शन स्वभावी आत्मा को जीव तत्त्व कहते हैं। आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, श्रद्धा, चारित्र आदि अनन्त गुण होते हैं। सब गुणों में निरन्तर परिवर्तन हुआ करता है जिसे पर्याय कहते हैं। पर्याय की दृष्टि से आत्मा के तीन भेद किये जाते हैं – बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।

जिसे नव तत्त्वों का सही ज्ञान व श्रद्धान नहीं है और जिसे आत्मानुभूति प्राप्त नहीं हुई है तथा जो शरीरादि अजीव पदार्थों एवं रागादिरूप आस्रवादि पदार्थों में अपनापन मानता है व उनका कर्त्ता बनता है, वह आत्मा ही बहिरात्मा है।

---

[1] विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ।।
रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ३२

[2] दंसण भट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
अष्टपाहुड़ (दर्शनपाहुड़), गाथा ३

[3] किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले।
सिज्झिहहि जे वि भविया, तंजाणइ सम्ममाहप्पं ।।
– अष्टपाहुड़ (मोक्षपाहुड़), गाथा ८८

[4] न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ।।
– रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ३४

जो आत्मा भेद-विज्ञान के बल से, आत्मा को देहादिक और रागादिक से भिन्न ज्ञान-दर्शन स्वभावी जानता, मानता व अनुभव करता है; वह ज्ञाता-दृष्टा सम्यग्दृष्टि आत्मा ही अन्तरात्मा कहा जाता है।

यही अन्तरात्मा गृहस्थावस्था त्यागकर, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार कर, निजस्वभाव साधन द्वारा आत्मतल्लीनता की परम अवस्था में पूर्ण वीतरागी होकर, सर्वज्ञता को प्राप्त कर लेता है; तो परमात्मा बन जाता है[1]।

बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्म दशा में नित्य परिवर्तनशील किन्तु सदा विद्यमान, देह से भिन्न एक चेतन तत्त्व है। उसमें जो परिवर्तनशील तत्त्व हैं वे तो आस्रव-बंध, पुण्य-पाप, संवर-निर्जरा और मोक्ष तत्त्व हैं और जो तीनों अवस्थाओं में विद्यमान सामान्य ज्ञानादिरूप स्थिर तत्त्व है, वह आत्म तत्त्व या जीव तत्त्व है।

इस आत्मा को अन्य द्रव्यों से पृथक् देखना (श्रद्धान करना) ही नियम से सम्यग्दर्शन है। यह आत्मा अपने गुण-पर्यायों में व्याप्त रहने वाला, शुद्धनय से एकत्व में निश्चित किया गया पूर्ण ज्ञानघन है। यह आत्मा सम्यग्दर्शनमयी है, अतः नव तत्त्वों की संगति को छोड़कर एकमात्र यही प्राप्त करने योग्य है[2]। यद्यपि यह आत्मा नव तत्त्वों में गया हुआ अनेक रूप दिखाई देता है, तथापि यह अपनी चैतन्य-चमत्कारमात्र ज्योति को नहीं छोड़ता है[3]।

---

[1] विशेष जानकारी के लिए देखिए :—
समाधिशतक : पूज्यपाद; अष्टपाहुड़ (मोक्षपाहुड़) : कुन्दकुन्द

[2] एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः॥

— समयसार, कलश ६

[3] अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्।
नवतत्त्वगतत्वेपि यदेकत्वं न मुंचति॥

— समयसार, कलश ७

दृष्टि की अपेक्षा वह सामान्य जीव तत्त्व (आत्मा) ही उपादेय है। उसे न जानने से और उसमें ही अपनापन न मानने से ही आत्मा बहिरात्मा (अज्ञानी) बना रहता है। उसे जान लेने से और उसमें ही अपनापन मान लेने पर वह आत्मा अन्तरात्मा (ज्ञानी) बन जाता है; तथा उसमें ही समग्रतः लीन हो जाने पर वही आत्मा परमात्म दशा प्राप्त कर लेता है।

अतः दृष्टि की अपेक्षा तो उपादेय एक सामान्य जीव तत्त्व ही है, किन्तु प्रगट करने की दृष्टि से अन्तरात्मा और परमात्मपद उपादेय हैं। बहिरात्मापन सर्वथा हेय ही है। उस परम उपादेय ज्ञान-दर्शन स्वभावी एक शुद्ध निजात्म-तत्त्व में उपयोग को स्थिर करने से, उसमें लीन होने से, सर्व विकारी भावों का अभाव होकर अनन्त आनन्दमय मोक्षदशा प्रगट होती है[1]।

अजीव तत्त्व

ज्ञान-दर्शन स्वभाव से रहित तथा आत्मा से भिन्न समस्त द्रव्य अजीव हैं, किन्तु जीव के संयोग में रहने वाले अजीवों के समझने में विशेष सावधानी की आवश्यकता है।

जिसमें जीव का संयोग नहीं है ऐसे अजीव पदार्थ जैसे – टेबिल, कुर्सी, कलम, दवात आदि को तो अजीव सभी मान लेते हैं; किन्तु जीव के संयोग में जो अजीव पदार्थ होते हैं उन्हें प्रायः जीव ही मान लिया जाता है। जैसे – हाथी, घोड़ा, गाय, मनुष्य आदि को जीव ही कहा जाता है – जबकि हाथी, घोड़ा, गाय, मनुष्य पर्याय; असमानजाति पर्याय होने से जीव और पुद्गल (अजीव) का संयोग है। भेद-विज्ञान की दृष्टि से विचार करने पर हाथी, घोड़ा व मनुष्य का शरीर – स्पर्श, रस, गंध, वर्ण वाले पुद्गल से निर्मित होने से अजीव है और उस शरीर में विद्यमान ज्ञान-दर्शन स्वभावी आत्मा जीव है। देह और

---

[1] अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो।
तम्हि ठिओ तच्चित्तो सव्वे एए खयं णेमि॥
– समयसार, गाथा ७३

जीव को एक मानना अज्ञान है[1] तथा जीव और अजीव की भिन्नता जानना ही जीव और अजीव तत्त्व का सही ज्ञान है ।

देह (अजीव) से आत्मा (जीव) को भिन्न न जानने के कारण बहिरात्मा शरीर की उत्पत्ति में अपनी उत्पत्ति और शरीर के नाश में अपना नाश मान लेता है[2] तथा जो जानना-देखनारूप आत्मा के कार्य हैं, उन्हें शरीर के अंगरूप इन्द्रियों के कार्य मान लेता है । जीव और अजीव का सही ज्ञान होने के लिए दोनों की पृथकता जानना एवं शरीरादि से भिन्न आत्मा में अपनापन होना तथा शरीरादि में कर्तृत्व बुद्धि का अभाव होकर उनसे भिन्न आत्मा की अनुभूति होना अत्यन्त आवश्यक है ।

आस्रव-बंध तत्त्व

आत्मा में उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेष भाव और उनका निमित्त पाकर पुद्गल की कार्माण वर्गणाओं का स्वयं ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित हो जाना आस्रव है । इसके दो भेद हैं – द्रव्यास्रव और भावास्रव। आत्मा के जिन भावों का निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि कर्म आते हैं, कर्मरूप परिणमित होते हैं, उन मोह-राग-द्वेषरूप भावों को भावास्रव या जीवास्रव कहते हैं और कार्माण वर्गणाओं का ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन ही द्रव्यास्रव या अजीवास्रव है [3]।

मोह-राग-द्वेष भावों का निमित्त पाकर कर्माणुओं का आत्म-प्रदेशों के साथ दूध-पानी की तरह एकमेक हो जाना बंध है । यह भी दो प्रकार का होता है – द्रव्य बंध और भाव बंध । आत्मा के जिन

[1] देह जीव को एक गिने बहिरातम तत्त्व मुधा है ।

– छहढाला, तृतीय ढाल, छन्द ४

[2] तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान ।।

– छहढाला, द्वितीय ढाल, छन्द ५

[3] आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ।।

– द्रव्यसंग्रह, गाथा २९

शुभाशुभ विकारी भावों के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्मों का बंध होता है, उन भावों को भाव बंध कहते हैं और ज्ञानावरणादि कर्मों का बंधना द्रव्य बंध है[1]।

आस्रव और बंध को शुभ और अशुभ के भेदों में भी वर्गीकृत किया जाता है :– शुभास्रव – अशुभास्रव और शुभबंध – अशुभबंध। यद्यपि आस्रव और बंध तत्त्व हेय तत्त्व हैं; तथापि साधारण जन अशुभ आस्रव और अशुभबंध को तो हेय मान लेते हैं, किन्तु शुभास्रव और शुभबंध में उनकी उपादेय बुद्धि बनी रहती है। मुख्यतः पापबंध के कारणों को अशुभास्रव और पापबंध को अशुभबंध कहते हैं, इसी प्रकार पुण्यबंध के कारणों को शुभास्रव और पुण्यबंध को शुभबंध कहते हैं। पुण्योदय के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली भोग-सामग्री में रुचि वाले जीवों से शुभास्रव और शुभबंध में उपादेय बुद्धि नहीं छूटती है।

इस संदर्भ में आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी का कथन दृष्टव्य है :–

"तथा आस्रवतत्त्व में जो हिंसादिरूप पापस्रव हैं उन्हें हेय जानता है। अहिंसादिरूप पुण्यास्रव हैं उन्हें उपादेय मानता है। परन्तु यह तो दोनों ही कर्मबंध के कारण हैं, इनमें उपादेयपना मानना वही मिथ्यादृष्टि है। वही समयसार के बंधाधिकार में कहा है* –

[1] द्रव्यसंग्रह, गाथा ३२

* समयसार गाथा २५४ से २५६ तथा–

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय,
कर्मोदयान्मरण-जीवित दुःख सौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य,
कुर्यात्पुमान् मरण जीवितदुःखसौख्यम् ॥६॥
अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य
पश्यन्ति ये मरण-जीवित दुःख-सौख्यम्।
कर्म्माण्यहं कृतिरसेन चिकीर्षवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ॥७॥
(समयसार कलश, बंधाधिकार)

सर्व जीवों के जीवन-मरण, सुख-दुःख अपने कर्म के निमित्त से होते हैं। जहाँ अन्य जीव अन्य जीव के इन कार्यों का कर्त्ता हो, वही मिथ्याध्यवसाय बंध का कारण है। वहाँ अन्य जीवों को जिलाने का अथवा सुखी करने का अध्यवसाय हो वह तो पुण्यबंध का कारण है, और मारने का अथवा दुःखी करने का अध्यवसाय हो वह पापबंध का कारण है। – इस प्रकार अहिंसावत् सत्यादिक तो पुण्यबंध के कारण हैं और हिंसावत् असत्यादिक पापबंध के कारण हैं। ये सर्व मिथ्याध्यवसाय हैं, वे त्याज्य हैं। इसलिए हिंसादिवत् अहिंसादिक को भी बंध का कारण जानकर हेय ही मानना[१]।"

पुण्य-पाप

पुण्य भाव और पाप भाव दोनों आत्मा की विकारी अन्तर्वृत्तियाँ हैं। देव पूजा, गुरु उपासना, दया, दान, व्रत, शील, संयमादि के प्रशस्त परिणाम पुण्य भाव कहे जाते हैं और इनका फल अनुकूल संयोगों की प्राप्ति है।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह-संग्रह आदि के भाव पाप भाव हैं और इनका फल लौकिक प्रतिकूलताएँ हैं। पुण्य भावों से पुण्य कर्म का बंध होता है और पाप भावों से पाप कर्म बंधते हैं। इस प्रकार इनके भी द्रव्य पुण्य – भाव पुण्य, द्रव्य पाप – भाव पाप, ऐसे दो-दो भेद किए जा सकते हैं।

पुण्य और पाप वस्तुतः आस्रव और बंध के ही अवान्तर भेद हैं। इन्हें पृथक् से कथन करने का एक मात्र उद्देश्य इनकी ओर विशेष ध्यान आकर्षित करना ही है, कारण कि सामान्यजन इनके समझने में विशेष गलतियाँ करते हैं। वे पुण्य को भला और पाप को बुरा समझ लेते हैं, क्योंकि पुण्य से मनुष्य और देव गति की प्राप्ति होती है और पाप से नरक व तिर्यंच गति की।

---

[१] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २२६

उनका ध्यान इस ओर नहीं जाता कि चारों गतियाँ संसार है और संसार दुःखरूप ही है। पुण्य और पाप दोनों संसार के ही कारण हैं। संसार में प्रवेश कराने वाले पुण्य-पाप भले कैसे हो सकते हैं[1]। पुण्य पाप बंधरूप हैं और आत्मा का हित अबंध (मोक्ष) दशा प्राप्त करने में है। यद्यपि पाप की अपेक्षा पुण्य को भला कहा गया है, किन्तु मुक्ति के मार्ग में उसका स्थान अभावात्मक ही है।

इस संदर्भ में योगीन्दुदेव 'योगसार' में लिखते हैं :-

पुण्णि पावइ सग्ग जिउ, पावएँ णरय-णिवासु।
वे छंडिवि अप्पा मुणई, तो लभई सिव वासु ॥३२॥

पुण्य से जीव स्वर्ग पाता है और पाप से नरक। जो इन दोनों को छोड़कर आत्मा को जानता है, वह मोक्ष को प्राप्त करता है।

पुण्य और पाप का अन्तर्भाव आस्रव और बंध में किस प्रकार होता है, इसे निम्नलिखित चार्ट द्वारा आसानी से समझा जा सकता है :-

शुभ भावों से पुण्यास्रव और पुण्यबंध होता है तथा अशुभ भावों से पापास्रव और पापबंध होता है। बंध चाहे पुण्य का हो या पाप का, वह है तो आखिर बंध ही। उससे आत्मा बंधता ही है, मुक्त तो नहीं
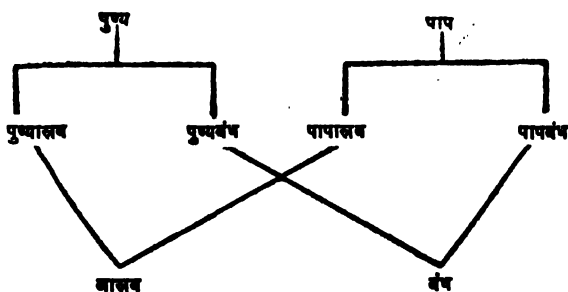
---

[1] कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥

—समयसार, गाथा १४५

होता। पुण्य को सोने की बेड़ी एवं पाप को लोहे की बेड़ी बताया है[1]। इस संबंध में डॉ० हीरालाल जैन लिखते हैं :-

"यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पुण्य और पाप, ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ कर्मबंध उत्पन्न करती हैं। हाँ, उनमें से प्रथम प्रकार का कर्मबंध जीव के अनुभवन में अनुकूल व सुखदायी; और दूसरा प्रतिकूल व दुःखदायी सिद्ध होता है। इसीलिए पुण्य और पाप दोनों को शरीर को बांधने वाली बेड़ियों की उपमा दी गई है। पापरूप बेड़ियाँ लोहे की हैं; और पुण्यरूप बेड़ियाँ स्वर्ण की, जो अलंकारों का रूप धारण कर प्रिय लगती हैं। जीव के इन पुण्य और पापरूप परिणामों को शुभ व अशुभ भी कहा गया है। ये दोनों ही संसार-भ्रमण में कारणीभूत हैं, भले ही पुण्य जीव को स्वर्गीय शुभ गतियों में ले जाकर सुखानुभव कराये; अथवा पाप नरकादि व पशु योनियों में ले जाकर दुःखदायी हो। इन दोनों शुभाशुभ परिणामों से पृथक् जो जीव की शुद्धावस्था मानी गई है, वही कर्मबंध से छुड़ाकर मोक्षगति को प्राप्त कराने वाली है[2]।"

भावास्रव, भावबंध, भावपुण्य और भावपाप ये सब आत्मा के विकारी भाव हैं और द्रव्यास्रव, द्रव्यबंध, द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप ये सब पुद्‌गल (कार्माण वर्गणा) के परिणमन हैं। इनके सर्वथा अभाव का नाम ही मोक्ष है। अतः मोक्ष के मार्ग में इन सब का स्थान अभावात्मक ही है।

संवर तत्त्व

आस्रव का रुकना संवर है[3]। यह भी दो प्रकार का होता है – द्रव्य संवर और भाव संवर। आत्मा का जो शुद्ध परिणाम कर्म के आस्रव को रोकने में हेतु है, वह शुद्ध परिणाम ही भाव संवर है और

---

[1] सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥
—समयसार, गाथा १४६

[2] भा० सं० जै० यो०, पृष्ठ २३३

[3] आस्रवनिरोधः संवरः। —तत्त्वार्थसूत्र अ० ९, सूत्र १

कर्मों का आना रुक जाना द्रव्य संवर है[1]। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के साथ संवर तत्त्व की प्राप्ति होती है। शुद्धात्म तत्त्व की अनुभूति के बिना न तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, न संवर की। भेद-विज्ञान के बल से शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है और शुद्धात्मा की उपलब्धि से राग-द्वेष-मोह का अभाव जिसका लक्षण है, ऐसा संवर होता है[2]। वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुपेक्षा, परीषहजय और चारित्र से होता है[3]।

गुप्ति तीन प्रकार की होती हैं – मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति।

समिति पांच प्रकार की होती हैं – ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदाननिक्षेपण समिति और प्रतिष्ठापना समिति।

धर्म दश प्रकार के होते हैं – उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य।

अनुप्रेक्षा बारह प्रकार की होती हैं – अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म।

परीषहजय बाईस प्रकार के होते हैं – क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमसक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, बध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, और अदर्शन ये बाईस परीषह हैं। इन्हें जीतना परीषहजय कहलाता है।

चारित्र पांच प्रकार का होता है – सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात।

इन सबका वर्णन जिनागम में विस्तार से किया गया है।

---

[1] द्रव्यसंग्रह, गाथा ३४

[2] समयसार गाथा १८३ की 'आत्मख्याति' टीका

[3] तत्त्वार्थसूत्र, अ० ६, सूत्र २

निर्जरा तत्त्व

द्रव्य और भावकर्मों के बंध का एकदेश अभाव होना ही निर्जरा है। निर्जरा भी दो प्रकार की होती है – द्रव्य निर्जरा और भाव निर्जरा। आत्मा के जो शुद्ध भाव कर्मों के झड़ने में हेतु हैं, वे भाव ही भाव निर्जरा हैं और ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों का झड़ना द्रव्य निर्जरा है[1]।

चैतन्यस्वभावी त्रिकाली ध्रुव आत्मतत्त्व के आश्रय से होने वाली अकषाय भावरूप शुद्धि की वृद्धि ही निर्जरा तत्त्व है। निर्जरा संवर-पूर्वक ही होती है।

समय पूर्ण होने पर या मंदकषायादि का कारण पाकर भी कर्म झड़ते हैं। यद्यपि इन्हें क्रमशः सविपाक निर्जरा और अकाम निर्जरा कहा गया है, तथापि मोक्षमार्ग में जो निर्जरा तत्त्व आता है उसका इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उनसे आत्मा के मुक्तिरूपी कार्य में कोई योग नहीं मिलता है। कहा भी गया है :–

निज काल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना।
तपकरि जो कर्म खपावै, सोई शिव सुख दरसावै[2]॥

वह निर्जरा तप से होती है[3]। इच्छाओं के निरोध का नाम तप है[4]। इसे ही यदि अस्तिरूप में कहें तो 'चैतन्यस्वरूप में निस्तरंग स्थिरता ही तप है'[5]। दोनों ही परिभाषाओं को मिला देने पर 'चैतन्य-स्वरूप में निस्तरंग स्थिरता से इच्छाओं-आकांक्षाओं को रोकना तप है। वह तप अंतरंग और बहिरंग के भेद से दो प्रकार का होता है तथा प्रत्येक के अवान्तर छः-छः भेद होते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर तप बारह प्रकार का है।

---

[1] द्रव्यसंग्रह, गाथा ३६

[2] छहढाला, पांचवी ढाल, छन्द ११

[3] तपसा निर्जरा च। – तत्त्वार्थसूत्र, अ० ९, सूत्र ३

[4] इच्छानिरोधस्तपः। – मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २३० पर उद्धृत

[5] स्वरूपविश्रान्तनिस्तरङ्गचैतन्यप्रतपनात् तपः।
– प्रवचनसार गाथा १४ की 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त-शय्यासन और कायक्लेश, ये बाह्य तप हैं[1]।

प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युतसर्ग और ध्यान, ये अंतरंग तप हैं[2]।

इन सब के विस्तृत विवेचन को तो यहाँ अवकाश नहीं है, किन्तु इतना समझ लेना आवश्यक है कि अंतर्बाह्य में से कोई भी तप क्यों न हो, उसमें आत्मा के शुद्ध स्वभाव के आश्रय से इच्छाओं का निरोध अवश्य होना चाहिए, अन्यथा वह तप नहीं कहा जा सकता है क्योंकि तप की मूल परिभाषा उसमें घटित होना ही चाहिए।

तप आत्मा की वीतराग परिणतिरूप शुद्ध भाव का नाम है। अनशनादि बहिरंग और प्रायश्चित्त आदि अंतरंग तप जिस रूप में वीतराग भाव के पोषक हैं, उसी रूप में वे तप हैं। कोई वीतराग भाव रूप तप को तो न जाने और बाह्यरूप से इन्हीं को करता रहे तो उसके निर्जरा नहीं होगी[3], क्योंकि निर्जरा का कारण तो शुद्ध भावरूप निश्चय तप ही है। सच्चा तप सम्यग्दृष्टि के ही होता है।

उपवासादि क्रियायें अज्ञानी भी करते हैं, किन्तु उनके ख्याल में उपवासादि तपों का सच्चा स्वरूप तो आता नहीं है और भोजनादि त्यागरूप बाह्य क्रिया को उपवासादि तप मान लेते हैं। जैसे – कषायों, भोगों और भोजन के त्याग का नाम उपवास है[4], किन्तु मात्र भोजन के त्याग को उपवास मान लिया जाता है, परिणामों में भोगों की बांछा और कषायों की ज्वाला कितनी ही क्यों न जलती रहे, उस ओर ध्यान ही नहीं जाता। आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी ने उनकी स्थिति का चित्रण करते हुए लिखा है :-

---

[1] तत्त्वार्थसूत्र, अ० ९, सूत्र १९

[2] वही, अ० ९, सूत्र २०

[3] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २३३

[4] कषायविषयाहारो त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः ॥

– मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २३१ पर उद्धृत

"कितने ही जीव पहले तो बड़ी प्रतिज्ञा धारण कर बैठते हैं, परन्तु अंतरंग में विषय-कषाय वासना मिटी नहीं है, इसलिए जैसे-तैसे प्रतिज्ञा पूरी करना चाहते हैं। वहाँ उस प्रतिज्ञा से परिणाम दुःखी होते हैं। जैसे कोई बहुत उपवास कर बैठता है और पश्चात् पीड़ा से दुःखी हुआ रोगी की भाँति काल गंवाता है, धर्म साधन नहीं करता; ....उपवास करके फिर क्रीड़ा करता है; कितने ही पापी जुआ आदि कुव्यसनों में लग जाते हैं अथवा सो रहना चाहते हैं। ऐसा जानते हैं कि किसी प्रकार काल पूरा करना।........धारणे-पारणे के भोजन में अति लोभी होकर गरिष्ठादि भोजन करते हैं, शीघ्रता बहुत करते हैं[1]।"

वस्तुतः जो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव आत्मा के आश्रय से शुद्धि की वृद्धि करते हुए निरन्तर इच्छाओं का अभाव करते जाते हैं, वही तप है और उससे ही निर्जरा होती है। उसके साथ होने वाली भोजनादिक के त्यागरूप क्रियाओं और विकल्परूप शुभ भावों को भी व्यवहार से तप कहा जाता है, पर वह उपचार मात्र है।

मोक्ष तत्त्व

मोह-राग-द्वेष आदि समस्त विकारों, दुःखों, ज्ञानावरणादि कर्मों और देहादिक नोकर्मों से पूर्णतः मुक्त हो जाना ही मोक्ष है। यह भी दो प्रकार का होता है – द्रव्य मोक्ष और भाव मोक्ष। आत्मा के जो शुद्ध भाव, कर्म-बंधन और मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भावों से पूर्णतः मुक्त होने में हेतु हैं, वे भाव भावमोक्ष हैं अर्थात् ज्ञानादि गुणों का पूर्ण विकास, पूर्ण शुद्ध पर्याय का प्रगट होना ही भाव मोक्ष है और ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों एवं देहादि नोकर्मों से सर्वथा छूट जाना द्रव्य मोक्ष है[2]।

मोक्ष को प्राप्त करने के लिए जो उपाय हैं, वे ही संवर-निर्जरा हैं। इस प्रकार संवर-निर्जरा कारण हैं और मोक्ष कार्य है। मोक्ष के साधक होने से संवर-निर्जरा मोक्षमार्ग है।

---

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २३८–३९

[2] द्रव्यसंग्रह, गाथा ३७

संवर, निर्जरा और मोक्ष उपादेय तत्त्व हैं। आस्रव-बंध, पुण्य-पाप संसार-मार्ग होने से हेय तत्त्व हैं। आश्रय करने की अपेक्षा से त्रिकाली ध्रुव शुद्ध एक जीव तत्त्व ही परम उपादेय है एवं इसके अतिरिक्त समस्त जीव-अजीव न तो हेय हैं, न उपादेय। वे ज्ञेय हैं, मात्र जानने योग्य हैं।

निजात्म तत्त्व के ज्ञान, श्रद्धान और लीनता से उपादेय तत्त्व संवर, निर्जरा और मोक्ष यथाक्रम प्रगट होते हैं। आस्रव, बंध, पुण्य-पाप यथाक्रम छूटते जाते हैं और सारा जगत ज्ञानी का ज्ञेयमात्र बनकर रह जाता है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में उक्त तत्त्वों का मंथन, चर्चा, निरन्तर अभ्यास आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी ने तत्त्वविचार का महत्त्व इस प्रकार प्रतिपादित किया है :-

"देखो, तत्त्वविचार की महिमा! तत्त्वविचाररहित देवादिक की प्रतीति करे, बहुत शास्त्रों का अभ्यास करे, व्रतादिक पाले, तपश्चरणादि करे, उसको तो सम्यक्त्व होने का अधिकार नहीं, और तत्त्वविचार वाला इनके बिना भी सम्यक्त्व का अधिकारी होता है। तथा किसी जीव को तत्त्वविचार होने के पहले कोई कारण पाकर देवादिक की प्रतीति हो, व व्रत-तप का अंगीकार हो, पश्चात् तत्त्वविचार करे; परन्तु सम्यक्त्व का अधिकारी तत्त्वविचार होने पर ही होता है[1]।"

देव

अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी सच्चे देव हैं। देवगति के देवों से पृथक् दिखाने के लिए यहाँ 'सच्चे' विशेषण का प्रयोग है। सच्चे देव को परमात्मा, भगवान, आप्त आदि नामों से अभिहित किया जाता है। यद्यपि सामान्य कथनानुसार ये शब्द सभी एकार्थवाची हैं तथापि आप्त शब्द अपनी कुछ अलग विशेषता रखता है।

जो वीतरागी और सर्वज्ञ हों वे सभी भगवान हैं, परमात्मा हैं, सच्चे देव हैं। किन्तु आप्त में एक विशेषता और होती है जो अन्य में नहीं। आप्त वीतरागी और सर्वज्ञ होने के साथ-साथ हितोपदेशी भी

---

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २६०

होते हैं[1]। सभी भगवान हितोपदेशी नहीं होते हैं। सिद्ध भगवान के तो वाणी का संयोग है ही नहीं। सच्चे देव की परिभाषा में हितोपदेशी विशेषण आप्त की अपेक्षा से है। वीतरागी तथा सर्वज्ञ ये विशेषण तो समस्त अरहन्त-सिद्ध परमात्माओं में पाये जाते हैं।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए सच्चे देव का स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार "जो द्रव्य-गुण-पर्याय से अरहन्त को जानता है, वह अपने आत्मा को भी जानता है और उसका दर्शनमोह नष्ट हो जाता है अर्थात् वह सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है[2]।"

सच्चे देव अर्थात् आप्त की परिभाषा में समागत तीनों विशेषणों को सही रूप में जानने के लिए उनका स्वरूप जानना आवश्यक है।

पहिला विशेषण है वीतराग – जो राग-द्वेष-मोह, जन्म-मरण, भूख-प्यास आदि अठारह दोषों[3] से रहित हों, उन्हें वीतराग कहते हैं[4]।

वीतरागी परमात्मा का उपासक ही वीतरागता का उपासक होता है। लौकिक सुख (भोग) की आकांक्षा से परमात्मा की उपासना करने वाला व्यक्ति वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान का उपासक नहीं हो सकता। वस्तुतः वह भगवान का उपासक न होकर भोगों का उपासक है।

---

[1] आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत ॥
– रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ५

[2] जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥
– प्रवचनसार, ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन अधिकार, गाथा ८०

[3] जनम जरा तिरषा क्षुधा विस्मय आरत खेद।
रोग शोक मद मोह भय निद्रा चिंता स्वेद ॥
राग द्वेष अरु मरण जुत, यह अष्टादश दोष।
नाहिं होत अरहंत के सो छवि लायक मोष ॥

[4] क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥
– रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ६

वीतरागी भगवान का सच्चा स्वरूप नहीं समझ पाने के कारण उपासना में अनेक विकृतियाँ आ जाना सम्भव है। यही कारण है कि आज हम देव-मूर्तियों में वीतरागता न देखकर चमत्कार देखने लगे हैं और 'चमत्कार को नमस्कार' की लोकोक्ति के अनुसार जिस मूर्ति और मन्दिर के साथ चमत्कारिक कथायें जुड़ी पाते हैं, उन मंदिरों में विशेषकर उन मूर्तियों के समक्ष तथाकथित भक्तों की भीड़ अधिकाधिक दिखाई देती है। जिनके साथ लौकिक समृद्धि, संतानादि की प्राप्ति की कल्पनाएँ प्रसारित हैं, वहाँ तो खड़े होने तक को स्थान नहीं मिलता और शेष मन्दिर खण्डहर होते जा रहे हैं – वहाँ की मूर्तियों की धूल साफ करने वाला भी दिखाई नहीं देता।

एक भगवान महावीर की हजारों मूर्तियाँ हैं। उन सब मूर्तियों के माध्यम से हम महावीर की पूजा करते हैं। पृथक्-पृथक् मन्दिरों में पृथक्-पृथक् मूर्तियों के माध्यम से पूजे जाने वाले भगवान महावीर पृथक्-पृथक् नहीं, वरन् एक हैं। भगवान महावीर अपनी वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता के कारण पूज्य हैं, कोई लौकिक चमत्कारों और सन्तान, धन आदि देने के कारण नहीं। जो महान आत्मा स्वयं धनादि और घरबार छोड़कर आत्मसाधना-रत हुए हों, उनसे ही धनादिक की चाह करना कितना हास्यास्पद है। उनको भोगादि का देने वाला कहना उनकी वीतरागता की मूर्ति को खण्डित करना है।

एक तो वीतरागी भगवान प्रसन्न होकर किसी को कुछ देते ही नहीं हैं और न अप्रसन्न होकर किसी का बिगाड़ ही करते हैं। दूसरे यदि भोले जीवों की कल्पनानुसार उन्हें सुख-दुःख देने वाला भी मान लिया जाय तो भी यह कैसे सम्भव है कि वे अमुक मूर्ति के माध्यम से ही कुछ देंगे, अन्य मूर्ति के माध्यम से नहीं। यदि यह कहा जाय कि वे तो कुछ नहीं देते किन्तु उनके उपासक को सहज ही पुण्यबंध होता है तो क्या अमुक मूर्ति की पूजा करने से या अमुक मन्दिर में घृतादिक के दीपक रखने से ही पुण्य बंधेगा, अन्य मंदिरों में या अन्य मूर्तियों के सामने नहीं।

भोले भक्तों ने अपनी कल्पना के अनुसार तीर्थंकर भगवन्तों में भी भेद-भाव कर डाला है। उनके अनुसार पार्श्वनाथ रक्षा करते हैं

तो शान्तिनाथ शान्ति। इसी प्रकार शीतलनाथ शीतला (चेचक) को ठीक करने वाले हैं और सिद्ध भगवान को कुष्ठ रोग निवारण करने वाला कहा जाता है। भगवान तो सभी वीतरागी-सर्वज्ञ, एकसी शक्ति-अनन्तवीर्य के धनी हैं, उनके कार्यों में यह भेद कैसे संभव है ? एक तो भगवान कुछ करते ही नहीं, यदि करें तो क्या शान्तिनाथ पार्श्वनाथ के समान रक्षा नहीं कर सकते ? ऐसा कोई भेद तो अरहन्त सिद्ध भगवन्तों में है नहीं।

लौकिक अनुकूलता-प्रतिकूलता अपने-अपने भावों द्वारा पूर्वोपार्जित पुण्य-पाप का फल है। भगवान का उसमें कोई कर्त्तृत्व नहीं है, क्योंकि वे तो कृतकृत्य हैं। वे कुछ करते नहीं, उन्हें कुछ करना शेष ही नहीं रहा। वे तो पूर्णता को प्राप्त हो चुके हैं।

भगवान को सही रूप में पहचाने बिना सही अर्थों में उनकी उपासना की ही नहीं जा सकती। परमात्मा वीतरागी और पूर्णज्ञानी होते हैं, अतः उनका उपासक भी वीतरागता और पूर्णज्ञान का उपासक होना चाहिये। विषय-कषाय का अभिलाषी वीतराग का उपासक हो ही नहीं सकता। विषय-भोगों की अभिलाषा से भक्ति करने पर तीव्र कषाय होने से पापबंध ही होता है, पुण्य का बंध भी नहीं होता[1]।

सच्चे देव का सही स्वरूप न जानने वाले भक्तों की मानसिक स्थिति का विश्लेषण करते हुए पंडित टोडरमलजी लिखते हैं :-

"तथा उन अरहन्तों को स्वर्ग-मोक्षदाता, दीनदयाल, अधम-उधारक, पतितपावन मानता है; सो जैसे अन्यमती कर्त्तृत्व बुद्धि से ईश्वर को मानता है, उसी प्रकार यह अरहन्त को मानता है। ऐसा नहीं जानता कि – फल तो अपने परिणामों का लगता है, अरहन्त उनको निमित्त मात्र हैं, इसलिए उपचार द्वारा वे विशेषण संभव होते हैं। अपने परिणाम शुद्ध हुए बिना अरहन्त ही स्वर्ग मोक्षादि के दाता नहीं हैं[2]।"

---

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ८

[2] वही, पृष्ठ २२१

"तथा अरहन्तादिक के नाम-पूजनादिक से अनिष्ट सामग्री का नाश तथा इष्ट सामग्री की प्राप्ति मानकर रोगादि मिटाने के अर्थ व धनादि की प्राप्ति के अर्थ नाम लेता है व पूजनादि करता है। सो इष्ट-अनिष्ट का कारण तो पूर्वकर्म का उदय है, अरहन्त तो कर्त्ता हैं नहीं। अरहंतादिक की भक्तिरूप शुभोपयोग परिणामों से पूर्वपाप के संक्रमणादि हो जाते हैं, इसलिए उपचार से अनिष्ट के नाश का व इष्ट की प्राप्ति का कारण अरहंतादिक की भक्ति कही जाती है; परन्तु जो जीव प्रथम से ही सांसारिक प्रयोजनसहित भक्ति करता है उसके तो पाप ही का अभिप्राय हुआ। कांक्षा-विचिकित्सारूप भाव हुए, उनसे पूर्वपाप के संक्रमणादि कैसे होंगे[1] ?"

सच्चे देव का दूसरा विशेषण है सर्वज्ञ। अलोकाकाश सहित तीनलोक व तीनकाल के समस्त पदार्थों को उनके गुण-पर्यायों सहित एक समय में पूर्णतः जानें, वे सर्वज्ञ हैं[2]। लोक में सब मिलाकर अनन्तानन्त द्रव्य हैं, प्रत्येक द्रव्य में अनन्तगुण हैं और प्रत्येक गुण की त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायें होती हैं। उन समस्त द्रव्यों, गुणों और पर्यायों को सर्वज्ञ भगवान एक समय में इन्द्रियादिक की सहायता के बिना परिपूर्ण रूप से जानते हैं। समस्त जगत में जो कुछ हो चुका है, हो रहा है और भविष्य काल में जो कुछ भी होने वाला है, सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में वह सब वर्तमान में वर्तमानवत् ही स्पष्ट झलकता है।

'जो सबको जाने सो सर्वज्ञ'। सामान्यरूप से इस तथ्य को स्वीकार कर लेने पर भी सर्वज्ञत्व के प्रति सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान न होने के कारण जब उनके सामने यह बात आती है कि :–

जो-जो देखी वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कबहूँ न होसी, काहे होत अधीरा रे।।

वीतराग-सर्वज्ञ देव ने भविष्य के संबंध में जो-जो देखा – जाना है, वही होगा, अन्यथा नहीं हो सकता है; अतः अधीर होने की आवश्यकता नहीं है।

---

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २२२

[2] सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य। – तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सूत्र २९

यह सुनकर वे एकदम चौंक उठते हैं कि तब तो हमारा परिणमन भगवान के ज्ञान के आधीन होगया, हम जो चाहें वह नहीं कर सकते। हम तो परतन्त्र हो गये। उनकी समझ में यह नहीं आता कि भगवान के ज्ञान के आधीन वस्तु का परिणमन नहीं है। जिस रूप में वस्तु स्वयं परिणमित हुई थी, हो रही है, और होगी, भगवान ने तो उसको उस रूप में मात्र जाना है।

ज्ञान तो 'पर' को मात्र जानता है, परिणमाता नहीं है। जिस प्रकार ज्ञान के आधीन वस्तु नहीं है, उसी प्रकार वस्तु के आधीन ज्ञान भी नहीं है। दोनों का स्वतंत्र परिणमन अपने-अपने कारण होता है। ज्ञान के जान लेने से वस्तु की स्वतंत्रता कैसे खण्डित हो जावेगी? स्वतंत्रता ज्ञान से नहीं, अपने अज्ञान से खण्डित होती है। ज्ञान ने तो वस्तु के परिणमन में किसी प्रकार के हस्तक्षेप किए बिना मात्र उसको जाना है।

उन्हें सर्वज्ञता की वास्तविक श्रद्धा तो होती नहीं, किंतु शास्त्रों में लिखा है कि भगवान वीतरागी और सर्वज्ञ होते हैं; अतः उन्हें सर्वज्ञ माने बिना भी रहा जाता नहीं। यही कारण है कि वे सर्वज्ञता की व्याख्या में अपनी रुचि के अनुसार कल्पनाएँ करते हैं। कहते हैं कि भूतकाल और वर्तमान में तो जो कुछ होना था, हो चुका या हो रहा है, उसे तो भगवान निश्चित रूप से जानते हैं; किन्तु भविष्य तो अभी घटित ही नहीं हुआ, उसके बारे में यह कैसे कहा जा सकता है कि निश्चित रूप से ऐसा ही होगा। भविष्य को निश्चित मानने में उन्हें स्वतंत्रता खण्डित होती लगती है। कहते हैं कि जब भविष्य निश्चित ही नहीं है तो उसको निश्चित कैसे जाना जा सकता है, अतः उसे सर्वज्ञ सशर्त जानते होंगे।

ज्ञान अनिश्चयात्मक न होकर निश्चयात्मक होता है। भविष्य को अनिश्चित मानने पर ज्योतिष आदि निमित्तज्ञान भी काल्पनिक सिद्ध होंगे जब कि सूर्यग्रहण आदि की घोषणाएँ वर्षों पहिले कर दी जाती हैं और वे सत्य निकलती हैं। लाखों वर्षों आगे की भविष्य की निश्चित घोषणाओं से आगम भरे पड़े हैं और वे घोषणाएँ भी

'ऐसा ही होगा' की भाषा में हैं, अतः निश्चित भविष्यज्ञता में शंका होने पर समस्त आगम का महल ध्वस्त होता नजर आयेगा। इसलिए सच्चे देव का स्वरूप समझने के लिए सर्वज्ञता का निर्णय अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि वही धर्म का मूल है।

सर्वज्ञ की त्रिकालज्ञता के सम्बन्ध में कुन्दकुन्दाचार्य देव का निम्नलिखित कथन दृष्टव्य है :-

जदि पच्चक्खमजायं पज्जायं पलइयं च णाणस्स।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति[1] ॥

यदि अनुत्पन्न (भविष्य की) और विनष्ट (भूत) की पर्यायें सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रत्यक्ष न हों तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा ?

आचार्य अमृतचन्द्र ने समस्त ज्ञेयों को एक क्षण में सम्पूर्ण गुण और पर्यायों सहित अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष जानने की चर्चा इस प्रकार की है :-

"एक ज्ञायक भाव का समस्त ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से क्रमशः प्रवर्तमान, अनन्त, भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्यायसमूह वाले, अगाध स्वभाव और गम्भीर समस्त द्रव्यमात्र को – मानों वे द्रव्य ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हुये हों, इस प्रकार – एक क्षण में ही जो (शुद्धात्मा) प्रत्यक्ष करता है,[2]"...

आत्मा का स्वभाव समस्त ज्ञेयों को एक समय में जानने का है। अतः जब आत्मा के ज्ञान गुण की पूर्णविकसित शुद्ध पर्याय केवलज्ञान प्रगट हो जाती है तो उसमें समस्त लोकालोक सहज ही प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। सर्वज्ञता की सिद्धि आचार्य समन्तभद्र ने 'आप्तमीमांसा' में, उसकी टीका 'अष्टशती' में आचार्य अकलंकदेव ने एवं 'अष्टसहस्त्री' में आचार्य विद्यानन्दि ने विस्तार से की है। अन्य जैन न्याय-ग्रंथों में भी इस पर प्रकाश डाला गया है। जिज्ञासु बंधुओं को अपनी विशेष जिज्ञासा वहाँ से शान्त करना चाहिए।

---

[1] प्रवचनसार, गाथा ३९

[2] वही, गाथा २०० की 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका

आप्त का तीसरा विशेषण है हितोपदेशी। आत्मा का हित सच्चे सुख की प्राप्ति में ही है और सच्चा सुख निराकुलता में ही होता है। आकुलता मुक्ति में नहीं है, अतः मुक्ति के मार्ग में लगना ही प्रत्येक सुखाभिलाषी का कर्त्तव्य है[1]। मुक्ति के मार्ग का उपदेश ही हितोपदेश है। अरहन्त भगवान की दिव्य-वाणी में मुक्ति के मार्ग का ही उपदेश आता है, अतः वे ही हितोपदेशी हैं। उनकी वाणी के अनुसार ही समस्त जिनागम लिखा गया है, अतः शास्त्र का सही स्वरूप जानना ही हितोपदेशी विशेषण का सही ज्ञान है।

शास्त्र

आप्त के वचन आदि हैं हेतु जिसमें, ऐसे पदार्थ के ज्ञान को आगम या शास्त्र कहते हैं[2]। अरहन्त परमात्मा की पवित्र वाणी में समागत पूर्वापर विरोध रहित तत्त्वार्थों का शुद्ध प्रतिपादन ही आगम है[3]। आप्त वीतरागी और पूर्ण ज्ञानी होते हैं, अतः उनका हितोपदेश अर्थात् उनकी वाणी भी वीतरागता की पोषक और पूर्णता की ओर ले जाने वाली होती है। वाणी में पूर्वापर विरोध का अभाव एवं वीतरागता का पोषण देखकर वक्ता की सर्वज्ञता एवं वीतरागता का निर्णय होता है और उसके बाद वक्ता से वाणी में प्रामाणिकता आती है।

समस्त जिनागम का निर्माण वीतरागी-सर्वज्ञ वक्ता की वाणी के आधार पर वीतरागता के मार्ग पर चलने वाले सम्यग्ज्ञानी सन्तों द्वारा होता है, अतः समस्त जिनागम के मूलकर्त्ता तो सर्वज्ञ देव ही

---

[1] आतम को हित है सुख सो सुख, आकुलता बिन कहिए।
आकुलता शिवमांहि न तातैं, शिवमग लाग्यो चहिए।।
— छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द १

[2] आप्तवचनादिनिबंधनमर्थज्ञानमागमः।।
— परीक्षामुख, अ० ३, सूत्र ९५

[3] तस्स मुहग्गदवयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं।
आगममिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था।।
— नियमसार, जीवाधिकार, गाथा ८

कहे जाते हैं[1]; उसके आगे उत्तरोतर ग्रन्थकर्त्ताओं में गणधर देव, आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठी एवं उनकी परम्परा में सम्यग्ज्ञानी श्रावक भी आते हैं। पर समस्त जिनागम की प्रामाणिकता का आधार वीतरागी और सर्वज्ञ परमात्मा ही हैं। अन्य ग्रन्थकारों की प्रामाणिकता वीतरागी और सर्वज्ञ प्रभु की वाणी की अनुकूलता के आधार पर ही है।

वीतराग की वाणी होने से जिनवाणी की पंक्ति-पंक्ति वीतरागता की पोषक होती है। जो वाणी राग-द्वेष आदि भावों को धर्म (मुक्ति का मार्ग) बताए, वह वाणी जिनवाणी (शास्त्र) नहीं हो सकती। समस्त जिनवाणी का तात्पर्य एकमात्र वीतरागता है[2]। वीतरागता ही परम धर्म है, अतः चारों अनुयोगों में वीतरागता की ही पुष्टि की गई है।

कहीं तो पूर्ण राग त्याग की बात कही गई है, और यदि कहीं पूर्ण राग छूटता सम्भव दिखाई नहीं दिया तो अधिक राग छोड़कर अल्प राग करने की सलाह दी गई है, पर रागादिभाव बढ़ाने को कहीं भी अच्छा नहीं बताया गया है[3]। जिसमें राग का पोषण हो वह शास्त्र जैनशास्त्र नहीं है।

शास्त्रों का सही स्वरूप समझने के साथ-साथ उनके कथनों का मर्म जानने के लिए उनके अर्थ करने की पद्धति से भी परिचित होना अत्यावश्यक है, अन्यथा उनका सही मर्म न समझ पाने के कारण लाभ के स्थान पर हानि हो सकती है। जैसे औषधि-विज्ञान सम्बन्धी शास्त्रों में अनेक प्रकार की औषधियों का वर्णन होता है। यद्यपि सभी औषधियाँ रोगों को मिटाने वाली ही हैं, तथापि प्रत्येक औषधि हर

---

[1] जिन-शास्त्रों पर प्रवचन करने के पूर्व निम्नलिखितानुसार मंगलाचरण के रूप में बोलना आवश्यक है और प्रत्येक प्रवचनकार बोलता भी है :-
........मिदं शास्त्रं (शास्त्र का नाम) नामधेयं अस्य मूलग्रंथकर्तारः श्री सर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रंथकर्तारः श्री गणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य कुन्दकुन्दाम्नाये (ग्रंथकार का नाम) विरचितं, श्रोतारः सावधानतया शृणवन्तु।

[2] पंचास्तिकाय संग्रह गाथा १७२ की 'समयव्याख्या' टीका

[3] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ३०३

एक रोगी के काम की नहीं हो सकती। विशेष रोग एवं व्यक्ति के लिए विशेष औषधि विशिष्ट अनुपान के साथ निश्चित मात्रा में ही उपयोगी होती है। यही बात शास्त्रों के कथनों पर भी लागू होती है। अतः उनके मर्म को समझने में पूरी-पूरी सावधानी रखनी चाहिये, अन्यथा गलत औषधि सेवन के समान लाभ के स्थान पर हानि की सम्भावना अधिक रहती है।

जैन शास्त्रों के कथन करने की एक पद्धति है—निश्चय और व्यवहार नयों द्वारा वस्तुस्वरूप प्रतिपादन करने की। जिनागम का रहस्य जानने के लिए इन दोनों नयों का स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि समस्त जिनागम में निश्चय-व्यवहाररूप कथन है। दूसरे जिनागम को चार अनुयोगों की पद्धति में विभक्त करके लिखा गया है। प्रत्येक अनुयोग की अपनी-अपनी पद्धति अलग-अलग है।

जब तक हम उक्त दोनों प्रकार की शैलियों से परिचित न होंगे, जिनवाणी का मर्म नहीं समझ पायेंगे। इन दोनों पद्धतियों के विस्तृत विवेचन को यहाँ अवकाश नहीं है, उन्हें विस्तार से जानने के लिए मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें व आठवें अधिकार का अध्ययन करना चाहिए। सातवें अधिकार के उभयाभासी के प्रकरण में निश्चय-व्यवहार शैली एवं आठवें अधिकार में चारों अनुयोगों वाली पद्धति के सम्बन्ध में प्रामाणिक, सर्वाङ्ग और विस्तृत विवेचन किया गया है।

शास्त्रों में उल्लिखित विषयों को उसके पूर्वापर प्रसंग और संदर्भ में समझना बहुत आवश्यक है, अन्यथा उसका सही भाव समझ पाना सम्भव नहीं होगा। शास्त्र स्वयं बोलते नहीं हैं, उनका मर्म हमें स्वयं या योग्य ज्ञानियों के सहयोग से निकालना पड़ता है।

शास्त्रों के माध्यम से हम हजारों वर्ष पुराने आचार्यों के सीधे सम्पर्क में आते हैं। हमें उनके अनुभव का लाभ मिलता है। लोकालोक का प्रत्यक्ष ज्ञान तो हमें परमात्मा बनने पर ही प्राप्त हो सकेगा, किन्तु परोक्षरूप से वह हमें जिनवाणी द्वारा प्राप्त हो जाता है। सर्वज्ञ भगवान के इस क्षेत्र-काल में अभाव होने एवं आत्मज्ञानियों की विरलता होने से एक जिनवाणी ही शरण है।

गुरु

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के द्वारा जो महान बन चुके हैं, उनको गुरु कहते हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी गुरु कहलाते हैं[1]। पंचेन्द्रियों के विषयों की आशा से रहित, सर्व प्रकार के आरंभ और परिग्रह से रहित, ज्ञान, ध्यान और तप में सदा लीन रहने वाले तपस्वी साधु ही गुरु हैं[2]।

निरन्तर आत्मस्वरूप की साधना करने वाले साधुओं के स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी लिखते हैं :-

"जो विरागी होकर, समस्त परिग्रह का त्याग करके शुद्धोपयोग-रूप मुनिधर्म अंगीकार करके अंतरंग में तो उस शुद्धोपयोग द्वारा अपने को आपरूप अनुभव करते हैं, परद्रव्य में अहंबुद्धि धारण नहीं करते तथा अपने ज्ञानादिक स्वभाव को ही अपना मानते हैं, परभावों में ममत्व नहीं करते, तथा जो परद्रव्य व उनके स्वभाव ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं उन्हें जानते तो हैं परन्तु इष्ट-अनिष्ट मानकर उनमें राग-द्वेष नहीं करते, शरीर की अनेक अवस्थाएँ होती हैं, बाह्य नाना निमित्त बनते हैं, परन्तु वहाँ कुछ भी सुख-दुःख नहीं मानते, तथा अपने योग्य बाह्य क्रिया जैसे बनती हैं वैसे बनती हैं, खींचकर उनको नहीं करते, तथा अपने उपयोग को बहुत नहीं भ्रमाते हैं, उदासीन होकर निश्चलवृत्ति को धारण करते हैं, तथा कदाचित् मंदराग के उदय से शुभोपयोग भी होता है उससे जो शुद्धोपयोग के बाह्य साधन हैं उनमें अनुराग करते हैं, परन्तु उस रागभाव को हेय जानकर दूर करना चाहते हैं, तथा तीव्र कषाय के उदय का अभाव होने से हिंसादि रूप अशुभोपयोग परिणति का तो अस्तित्व ही नहीं रहा है; तथा ऐसी अंतरंग (अवस्था) होने पर बाह्य दिगम्बर सौम्यमुद्राधारी हुए हैं, शरीर का सँवारना आदि

---

[1] भगवती आराधना, पृष्ठ ५११

[2] विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ।।

— रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक १०

विक्रियाओं से रहित हुए हैं, वनखण्डादि में वास करते हैं, अट्ठाईस मूलगुणों का अखण्डित पालन करते हैं, बाईस परीषहों को सहन करते हैं, बारह प्रकार के तपों को आदरते हैं, कदाचित् ध्यानमुद्रा धारण करके प्रतिमावत् निश्चल होते हैं, कदाचित् अध्ययनादिक बाह्य धर्मक्रियाओं में प्रवर्तते हैं, कदाचित् मुनिधर्म के सहकारी शरीर की स्थिति के हेतु योग्य आहारविहारादि क्रियाओं में सावधान होते हैं– ऐसे जैन मुनि हैं उन सबकी ऐसी अवस्था होती है[1] ।"

वैसे तो अध्यापक, माता-पिता आदि को भी गुरु कहा जाता है किन्तु यहाँ मुक्ति के मार्ग का प्रकरण है, अतः यहाँ पर जिन गुरुओं को लिया गया है – वे आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी ही हैं। वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सहित सम्यक्चारित्र के धारी भावलिंगी नग्न दिगम्बर सन्त ही होते हैं। उनकी दशा अत्यन्त शान्त होती है।

उनके समताभाव और उससे प्राप्त होने वाले अतीन्द्रिय आनंद का चित्रण पंडित दौलतरामजी ने इस प्रकार किया है :–

अरि मित्र महल मसान कंचन, कांच निंदन थुति करन;
अर्घावतारन असि-प्रहारन में सदा समता धरन ।।

यों चिन्त्य निजमें थिर भये, तिन अकथ जो आनंद लह्यो;
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा अहमिन्द्र कैं नाहीं कह्यो[2] ।।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए देव और शास्त्र के समान गुरु का स्वरूप समझना भी अत्यन्त आवश्यक है। गुरु के स्वरूप को समझने में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है, क्योंकि गुरु तो मुक्ति के साक्षात् मार्ग-दर्शक होते हैं। यदि उनके स्वरूप को भली-भाँति न समझ पाया तो गलत गुरु के संयोग से भटक जाने की संभावना अधिक बनी रहती है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने अष्टपाहुड़ में गुरु के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला है। जहाँ एक ओर उन्होंने वस्त्रादि बाह्य परिग्रहादि के

---

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ३

[2] छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द ६,११

धारक तथाकथित गुरुओं को मोक्षमार्ग से च्युत माना है, वहीं बाह्य में नग्न-दिगम्बर होने पर भी अन्तर में मोह-राग-द्वेष से युक्त हों, उनमें भी गुरुत्व का निषेध करते हुए सावधान किया है। वे लिखते हैं :–

जे पंचचेलसत्ता ग्रंथग्गाहीय जायणासीला।
आधाकम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि[1] ॥

जो पांच प्रकार के वस्त्रों में आसक्त हैं, उनमें से किसी प्रकार का वस्त्र ग्रहण करते हैं, याचना करते हैं, अधःकर्म आदि पाप कर्मों में रत हैं, सदोष आहार लेते हैं – वे मोक्षमार्ग से च्युत हैं।

यद्यपि साधु नग्न ही होते हैं, तथापि नग्न हो जाने मात्र से कोई साधु नहीं हो जाता। उन्हीं के शब्दों में :–

दव्वेण सयल णग्गा णारयतिरिया य सयलसंघाया।
परिणामेण अशुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता ॥
णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसारसायरे भमई।
णग्गो न लहइ बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइरं ॥
भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए[2] ॥

द्रव्य से बाह्य में तो सभी प्राणी नग्न होते हैं। नारकी जीव और तिर्यञ्च जीव तो निरन्तर वस्त्रादि से रहित नग्न ही रहते हैं। मनुष्यादि भी कारण पाकर नग्न होते देखे जाते हैं तो भी वे सब परिणामों से अशुद्ध हैं, अतः भावश्रमणपने को प्राप्त नहीं होते हैं।

जिन-भावना से रहित अर्थात् सम्यग्दर्शन से रहित नग्न-श्रमण सदा दुःख पाता है, संसार-सागर में भ्रमण करता है, और वह बोधि अर्थात् रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग को चिरकाल तक नहीं पाता है।

पहिले मिथ्यात्व आदि दोषों को छोड़कर भाव से अंतरंग नग्न हो अर्थात् एकरूप शुद्ध आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण कर पश्चात् बाह्य में द्रव्यलिंग प्रगट करे यह मार्ग है, अर्थात् जिनाज्ञा है।

---

[1] अष्टपाहुड़ (मोक्षपाहुड़), गाथा ७९

[2] वही (भावपाहुड़), गाथा ६७,६८,७३

यदि देव साक्षात् मोक्षस्वरूप हैं तो गुरु साक्षात् मोक्षमार्ग (संवर, निर्जरा) हैं। वे एक प्रकार से चलते-फिरते सदेह सिद्ध हैं। वे देव और शास्त्र के समान ही अष्टद्रव्य से पूज्यनीय हैं। वे हमारे परमपूज्य पंचपरमेष्ठी में सम्मिलित हैं, जिन्हें हम प्रतिदिन णमोकार मंत्र के रूप में प्रातः-सायं १०८ बार स्मरण करते हैं व नमस्कार करते हैं।

उन रत्नत्रय के धनी परम वीतरागी नग्न-दिगम्बर भावलिंगी सन्तों के प्रति यदि हमारे हृदय में रंचमात्र भी अवज्ञा का भाव रहा तो हम मुक्ति मार्ग से बहुत दूर रहेंगे तथा साथ ही जिनागम में वर्णित गुरु के स्वरूप के अनुरूप जो श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र के धारक नहीं हैं; यदि हमने उन्हें भय, आशा, स्नेह और लोभादिक के कारण गुरु के समान पूजा, पूज्य माना तब भी हम मुक्ति मार्ग के समीप नहीं आ सकेंगे[1]। सो ही कहा है :-

जे वि पडंति च तेसिं जाणंता लज्जागारवभयेण।
तेसिं पि णत्थि बोहि पावं अणुमोयमाणाणं[2] ॥

जो व्यक्ति उन सम्यग्दर्शन रहित साधुओं को जानते हुए भी लज्जा, गौरव और भय के कारण नमस्कारादि करते हैं, उन्हें पूजते हैं; पाप की अनुमोदना करने वाले होने के कारण वे भी सम्यग्दृष्टि नहीं हैं।

अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान स्वरूप क्रोधादि कषायों से रहित, सम्यग्ज्ञानी, नित्य निजात्मा में विहार करने वाले, शत्रु-मित्रों में समताभाव धारण करने वाले वीतरागी मुनिवरों को बारंबार नमस्कार करते हुए हम भी महाकवि भूधरदासजी के स्वर में स्वर मिलाकर भावना भाते हैं कि :-

---

[1] भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगिनाम्।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥
— रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ३०

[2] अष्टपाहुड़ (दर्शनपाहुड़), गाथा १३

वे मुनिवर कब मिलि हैं उपगारी ।। टेक ।।
साधु दिगम्बर नगन निरम्बर, संवर भूषणधारी ।। वे० ।।१।।
कंचन काच बराबर जिनकै, ज्यौं रिपु त्यौं हितकारी ।
महल मसान मरन अरु जीवन, सम गरिमा अरु गारी ।। वे० ।।२।।
सम्यग्ज्ञान प्रधान पवन बल, तप पावक परजारी ।
शोधत जीव सुवर्ण सदा जे, काय-कारिमा टारी ।। वे० ।।३।।
जोरि जुगल कर 'भूधर' विनवै, तिन पद ढोक हमारी ।
भाग उदय दरसन जब पाऊँ, ता दिन की बलिहारी[1] ।। वे० ।।४।।

भेद-विज्ञान

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में सप्त-तत्त्वार्थ एवं देव-शास्त्र-गुरु के श्रद्धान के पश्चात् तीसरी प्रमुख बात है भेद-विज्ञान । जिनागम में भेद-विज्ञान की महिमा को अचिन्त्य माना गया है । कहा गया है कि जितने भी जीव आज तक सिद्ध (मुक्त) हुए हैं, वे सब भेद-विज्ञान से ही हुए हैं और जितने भी संसार में दुःखी होकर भटक रहे हैं, वे सब भेद-विज्ञान के न होने से ही भटक रहे हैं[2] । शुद्धात्म तत्त्व की प्राप्ति से साक्षात् संवर होता है और शुद्धात्म तत्त्व की प्राप्ति भेद-विज्ञान से होती है, अतः भेद-विज्ञान ही अत्यन्त भाने योग्य है[3] । इस भेद-विज्ञान को लगातार तब तक भाना चाहिये जब तक कि पर भावों से छूटकर ज्ञान, ज्ञान (आत्मा) में प्रतिष्ठित न हो जावे[4] ।

महाकवि बनारसीदास ने निजगुणरूपी-वस्त्रों को धोने के लिए भेद-विज्ञान को साबुन के समान बताया है । वे लिखते हैं :-

भेदग्यान साबू भयौ, समरस निरमल नीर ।
धोबी अन्तर आतमा, धोवै निजगुन चीर[5] ।।

---

[1] भक्ति-पाठ-संग्रह, पृष्ठ २५

[2] भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ।। —समयसार, कलश १३१

[3] वही, कलश १२९

[4] वही, कलश १३०

[5] नाटक समयसार, संवर द्वार, छन्द ९

चेतन और जड़ तथा स्वभाव और विभाव की भिन्नता दर्शाने को भेद-विज्ञान अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाला आरा है। जिनके हृदय में भेद-विज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है उन्हें परसंग अच्छा नहीं लगता है। वे आत्मा का अनुभव करके नित्य प्रसन्न रहते हैं और परमात्मा के स्वरूप को अच्छी तरह पहचानते हैं[1]।

पर से भिन्न निजात्मा को जानना ही भेद-विज्ञान है। भेद-विज्ञान 'स्व' और 'पर' के बीच किया जाता है, अतः इसे स्वपर-भेदविज्ञान भी कहा जाता है। वस्तुतः यह आत्म-विज्ञान ही है, क्योंकि इसमें पर से भिन्न निजात्मा को जानना ही मूल प्रयोजन है।

भेद-विज्ञान में मूल बात दोनों को मात्र जानना या एकसा जानना नहीं, भिन्न-भिन्न जानना है। भिन्न-भिन्न जानना भी नहीं, पर से भिन्न स्व को जानना है। पर को छोड़ने के लिए जानना है और स्व को पकड़ने के लिए। पर को मात्र जानना है और स्व को जानकर उसमें जमना है, रमना है। स्व और पर को जानने का आशय उनके भेद-प्रभेदों के विकल्पजाल में उलझने से नहीं, किन्तु समस्त भेद जिसमें समा गये हैं – ऐसे अभेद, अखण्ड आत्मा को अखण्डपने जानने से है।

दृष्टि की अपेक्षा त्रिकाली ज्ञानानन्द-स्वभावी ध्रुव चैतन्य निज तत्त्व ही स्व है। सब पुद्गलादि अचेतन पदार्थ, उनके गुण, उनकी पर्यायें तो 'पर' हैं ही, साथ ही आत्मा में उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भावरूप आस्रव, बंध, पुण्य-पाप तत्त्व भी 'पर' हैं। यहाँ तक कि संवर, निर्जरा और मोक्षरूप अविकारी पर्यायें भी 'पर' की ही कोटि में आती हैं, क्योंकि इन्हें जीव तत्त्व में शामिल मान लेने पर संवरादि तत्त्व जुदे नहीं बनेंगे।

---

[1] सुद्ध सुछंद अभेद अबाधित, भेद-विग्यान सुतीछण आरा।
अंतरभेद सुभाव विभाऊ, करै जड़-चेतनरूप दुफारा।।
सो जिन्हके उरमैं उपज्यो, न रुचै तिन्हकौं परसंग-सहारा।
आतमको अनुभौ करि ते, हरखैं परखैं परमातम-धारा।।

नाटक समयसार, संवर द्वार, छन्द ३

समस्त पर-जीवद्रव्य, अजीवद्रव्य, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष पर्याय-तत्त्वों से दृष्टि हटाकर इनसे भिन्न निजात्म ध्रुव तत्त्व में दृष्टि और ज्ञान को केन्द्रित करना ही स्वपर-भेदविज्ञान है।

आत्मार्थी पर को भी जानते हैं, पर उससे कुछ पाने के लिए नहीं, अपनाने के लिए भी नहीं; 'पर' से भिन्न 'स्व' की पहचान के लिए ही वे पर को जानते हैं।

उनका पर को जानना भी स्व की खोज है, क्योंकि उन्हें पर से भिन्न आत्मा को जानना है; पर को न जानेंगे तो उसमें आत्मबुद्धि हो सकती है। जिससे भिन्न जानना है, उसे भी जानना होगा, पर उसे जानने के लिए नहीं; आत्मा को जानने में भूल न हो जावे, मात्र इसलिए उसे जानना है।

'पर' को जानना है, पर हेय बुद्धि से जानना है। जैसे – जिसकी माँ खो गई है ऐसा बालक अपनी माँ की खोज के प्रयत्न में अनेक महिलाओं को देखता है, पर उन पर उसकी दृष्टि जमती नहीं। यह जानते ही कि यह मेरी माँ नहीं है, तत्काल उनसे उसकी दृष्टि हट जाती है; पर जब उसकी माँ मिल जाय तो उसे देखकर उस पर से वह दृष्टि हटाता नहीं, उसे देखता ही रहता है, उससे लिपट जाता है, उसमें समा जाना चाहता है। उसी प्रकार ज्ञानी आत्मा यद्यपि पर को जानता है तथापि उसकी दृष्टि पर में जमती नहीं, रमती नहीं।

यद्यपि खोज की प्रक्रिया व खोज को भी व्यवहार से भेद-विज्ञान कहा जाता है, तथापि जिसे खोजना है उसी में खो जाना ही वास्तविक भेद-विज्ञान है अर्थात् निज-अभेद में खो जाना, समा जाना ही भेद-विज्ञान है।

भेद-विज्ञानी जीव की दृष्टि अविकृत होती है। वह आत्मा को रागी-द्वेषी अनुभव नहीं करता और न ही वह आत्मा को सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि आदि भेदों में अनुभव करता है। अनुभव में अशुद्धता और भेद नजर नहीं आता।

'तुम्हारी माँ कैसी है?' खोये हुए बालक से पूछे जाने पर वह इसके अतिरिक्त और क्या उत्तर देगा कि 'माँ, माँ जैसी है'। उसका

नाम क्या है ? 'मम्मी', यही उत्तर होगा उसका। वह गोरी है या काली, लम्बी है या ठिगनी, मोटी है या पतली ? इन सब प्रश्नों के उत्तर शायद वह कुछ न दे सके, क्योंकि उसने कभी माँ को इन रूपों में देखा ही नहीं, जाना ही नहीं; वह तो उसे मात्र माँ के रूप में जानता है।

उसकी माँ के उक्त विशेषण किसी 'पर' की अपेक्षा हो सकते हैं। हो सकता है कि किसी अन्य महिला से उसकी माँ लम्बी हो और किसी से ठिगनी। वह किसी से मोटी और किसी से पतली भी हो सकती है। पर उसने तो किसी 'पर' से अपनी माँ की तुलना की ही नहीं; क्योंकि उसकी दृष्टि में तो माँ अतुलनीय है, उसकी तुलना किसी से की ही नहीं जा सकती, उसने माँ को बहुतों में से छाँटकर माँ नहीं बनाया है।

माँ गोरी और काली दो प्रकार की होती है, लम्बी और ठिगनी दो प्रकार की होती है, मोटी और पतली दो प्रकार की होती है; उसने तो यह सुना ही आज है, वह क्या बताये कि उसकी माँ कैसी है ? हो सकता है बहुतों ने उसकी माँ को इन रूपों में देखा हो, जाँचा हो, परखा हो, पर उसने तो इसकी कभी आवश्यकता ही नहीं समझी।

पुलिस वाले कह सकते हैं कि यह तो अपनी माँ को पहचानता ही नहीं। यह भी नहीं जानता कि वह कैसी है, नाम भी नहीं जानता। हम क्या करें, कैसे पता लगायें इसकी माँ का ? पर क्या यह सच है कि वह अपनी माँ को नहीं जानता, नहीं पहचानता ?

क्या माँ को जानने के लिए उसका नाम जानना जरूरी है, उसका रंग-रूप जानना जरूरी है ? क्या माँ को 'माँ' के रूप में नहीं जाना जा सकता ? क्या उसे काली-गोरी के रूप में जानना आवश्यक है ? क्या माँ का नाम 'मम्मी' यह पर्याप्त नहीं ? जिस नाम से वह प्रति दिन पुकारता है और माँ मिल जाती है, क्या उस माँ को जानने के लिए कमला-विमला आदि नामों को जानना आवश्यक है ? क्या वह सचमुच ही माँ को नहीं पहचानता जैसा कि पुलिस वाले कह रहे हैं ?

यदि उसकी माँ सामने आ जाय तो क्या वह उसे नहीं पहचान पायगा ? अवश्य ही पहचान लेगा ।

भले ही वह माँ की पहचान को भाषा न दे सकता हो, पर वह माँ को पहचानता ही नहीं, यह कहना गलत है, एकदम गलत है। पहचानना अलग चीज है और पहचान को भाषा देना अलग चीज है। हो सकता है उसकी माँ का गाँव, योग्यता, रूप-रंग, कद आदि को जानने वाला उसकी माँ को सही रूप में पहचानता ही न हो। कम से कम उसकी माँ के माँ-पन को जितनी अच्छी तरह वह जानता है, उतनी अच्छी तरह अन्य कोई नहीं जान सकता।

उसके लिए उसकी माँ 'माँ' है और कुछ नहीं। वह माँ के माँ-पन को पहचानता है और कुछ नहीं, और कुछ पहचानने की उसे आवश्यकता ही नहीं। उसके लिए उसका माँ-पन ही पर्याप्त है। यद्यपि वह उसके पिता की पत्नी भी है, पर उसे क्या ? उसे उसके पत्नी-पन से कोई मतलब ही नहीं, उसे तो उसका माँ-पन पर्याप्त है।

इसी प्रकार आत्मानुभवी पुरुष से कोई पूछे कि आत्मा कैसा होता है ? तो वह यही उत्तर देगा कि 'आत्मा–आत्मा जैसा है' और कहे भी क्या ? वह रागी-द्वेषी-मोही, क्रोधी, सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि आदि कैसा है ? हो सकता है कि इसका वह कुछ भी उत्तर न दे सके, क्योंकि उसने अनुभव में आत्मा को इस रूप में देखा ही नहीं; उसने तो शुद्ध-बुद्ध ही देखा है, जाना है, अनुभव किया है, राग-द्वेष-मोहादि से भिन्न ही अनुभव किया है।

हो सकता है अज्ञानी ने उसे इन रूपों में देखा-जाना हो, वह उसकी दृष्टि के विकार का परिणाम है, उस जैसी विकारी दृष्टि ज्ञानी के पास है ही नहीं, उसने आत्मा को इस रूप में देखा जाना ही नहीं। राग-द्वेष की भाषा में वह आत्मा को कैसे कहे, कैसे समझाये ?

पर्याय-दृष्टि से देखने पर आत्मा में राग-द्वेष नजर आते हैं, पर द्रव्यदृष्टिवंत के पर्याय-दृष्टि इतनी गौण हो गई है, विशेषकर अनुभूति के काल में, कि उसमें विकार दृष्टिगत होता ही नहीं है। उसे विकार से क्या ? होगा तो होगा।

लोग कह सकते हैं कि जब यह आत्मा में राग-द्वेष को ही स्वीकार नहीं करता तो यह आत्मा को जानता ही नहीं। पर क्या आत्मा को जानने के लिए आत्मा में राग-द्वेष की अनुभूति आवश्यक है ? यद्यपि वह जानता है कि पर्याय में उनकी भी सत्ता है। है तो रहा करे, उसे क्या ? ज्ञानी ने तो राग-द्वेष के माध्यम से आत्मा को जाना ही नहीं। वे होंगे, तो होंगे। उनसे उसे क्या प्रयोजन है ? वह विचारता है कि 'मैं तो ज्ञान-दर्शन-स्वभावी ध्रुव तत्त्व हूँ, मेरे में तो उनका प्रवेश ही नहीं'।

हो सकता है आत्मानुभवी जीव 'आत्मा क्या है' ? इसे भाषा में व्यक्त न कर सके, पर क्या आत्मानुभव के लिए भाषा की आवश्यकता है ? आत्मानुभव अलग वस्तु है और उसे भाषा में व्यक्त करना बिलकुल अलग चीज है।

यदि बालक को पुलिस के सहयोग से माँ मिल जाय तो वह माँ को देखकर अन्य महिलाओं के समान उससे दृष्टि हटायगा नहीं; जमाए ही रहेगा, उसके गले लग जायगा, उससे एकमेक हो जायगा। माँ बेटा-मय और बेटा माँ-मय हो जायेंगे। वे सब कुछ भूल जायेंगे। पुलिस वालों को भी धन्यवाद वे तब देंगे, जब वे कुछ समय बाद सहज हो जायेंगे। उस समय तो उन्हें किसी 'पर' की कोई सुध-बुध ही न रहेगी।

उसी प्रकार आत्मखोजी को जब आत्मोपलब्धि होती है, उस काल वे उसके निमित्त देव-शास्त्र-गुरु को भी भूल जाते हैं। वे तो आत्मा में तन्मय हो जाते हैं। पर्याय द्रव्य में अभेद हो जाती है। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति तक का विकल्प टूट जाता है। जब कुछ काल बाद वे शुभोपभोग में आवेंगे तब व्यवहार में जागृत होंगे।

भेद-विज्ञानी का मार्ग स्व और पर को जानना मात्र नहीं है, स्व से भिन्न पर को जानना मात्र भी नहीं है; बल्कि पर से भिन्न स्व को जानना, मानना और अनुभवना है। यहाँ 'स्व' मुख्य है, 'पर' गौण। 'पर' गौण है, पूर्णतः गौण है, क्योंकि उसकी मुख्यता में 'स्व' गौण हो जाता है; जो कि ज्ञानी को कदापि इष्ट नहीं है।

ऐसे भेद-विज्ञानी आत्मार्थी जीव मुक्ति-मार्ग के पथिक जिनेश्वर के लघुनन्दन हैं। महाकवि पंडित बनारसीदास ने उनकी वंदना इस प्रकार की है :—

भेदविज्ञान जग्यौ जिन्हकै घट,
शीतल चित्त भयौ जिम चंदन।
केलि करैं शिवमारग मैं,
जग माहिं जिनेश्वर के लघुनन्दन॥
सत्य सरूप सदा जिन्हकै,
प्रगट्यौ अवदात मिथ्यात-निकंदन।
शान्त दशा तिन्हकी पहिचानि,
करै कर जोरि बनारसि वंदन[1]॥

आत्मानुभूति

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए अनिवार्य शर्त है आत्मानुभूति का प्राप्त होना। आत्मानुभूति के बिना समस्त प्रयत्न निरर्थक हैं। स्वानुभूति से ही और सब सनाथ हैं[2]। आत्मानुभूति को स्वानुभूति भी कहते हैं क्योंकि अनुभूति अपने आत्मा की ही होती है, अन्य आत्मा की नहीं। स्वानुभव, अनुभव आदि नामों से इसे अभिहित किया जाता है। ज्ञानी जीवों ने इसके गीत मुक्त कंठ से गाये हैं :—

अनुभव चिन्तामनि रतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोख कौ, अनुभव मोख सरूप[3]॥

अनुभौ के रस कौं रसायन कहत जग,
अनुभौ अभ्यास यहु तीरथ की ठौर है।
अनुभौ की जो रसा कहावै सोई पोरसा सु,
अनुभौ अधोदसा सौं ऊरध की दौर है॥

---

[1] नाटक समयसार, उत्थानिका, छन्द ६
[2] पंचाध्यायी, अ० २, श्लोक ४१५
[3] नाटक समयसार, उत्थानिका, छन्द १८

अनुभौ की केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभौ को स्वाद पंच अमृत को कौर है।
अनुभौ करम तोरै परम सौं प्रीति जोरै,
अनुभौ समान न धरम कोऊ और है[1] ।।१६।।

णियतच्चुवलद्धि विणा सम्मत्तुवलद्धि णत्थि णियमेण।
सम्मत्तुवलद्धि विणा णिव्वाणं णत्थि जिणुदिट्ठं[2] ।।

निजतत्त्वोपलब्धि (आत्मानुभूति) के बिना सम्यग्दर्शन की उपलब्धि नहीं होती और सम्यक्त्व की उपलब्धि बिना निर्वाण (मोक्ष) नहीं होता।

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै–
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा–
न्न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति[3] ।।

बहुत कथन से एवं बहुत से दुर्विकल्पों से क्या लाभ ? अन्तिम रूप से इतना कहना है कि एकमात्र परमार्थ स्वरूप आत्मा का अनुभव करो, क्योंकि निजरस के प्रसार से परिपूर्ण ज्ञानस्वरूपी शुद्धात्मा से बढ़कर दुनियाँ में और कुछ नहीं है। एकमात्र निज शुद्धात्मा का अनुभव करना ही सार है। अतः

एक देखिए जानिए, रमि रहिए इक ठौर।
समल विमल न विचारिए, यहै सिद्धि नहिं और[4] ।।

अधिक क्या–

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं[5] ।।

---

[1] नाटक समयसार, उत्थानिका, छन्द १६

[2] रयणसार, गाथा ६०

[3] समयसार, कलश २४४

[4] नाटक समयसार, जीव द्वार, छन्द २०

[5] समयसार, गाथा २०६

हे भव्य जीवो ! एक मात्र निजात्मा में ही लीन हो जावो, हमेशा इसमें ही संतुष्ट रहो, इससे ही तृप्त हो जाओ। तुम्हें उत्तम सुख की प्राप्ति अवश्य होगी। क्योंकि :–

अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिन्तामणिरेष यस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण[1] ।।

यह आत्मा स्वयं ही अचिन्त्यशक्ति वाला देव है, चैतन्यरूप चिन्तामणिरत्न है। अतः सर्वार्थ है सिद्ध जिसके, ऐसे ज्ञानी जीवों को अन्य के परिग्रह से क्या लाभ ? ज्ञानी किसी पद की आशा क्यों करें ?

आत्मानुभूति सब धर्मों का सार है। इससे धर्म का आरंभ होता है और धर्म की पूर्णता भी इसकी पूर्णता में है अर्थात् अनन्त आत्म-लीनता की दशा ही धर्म की पूर्णता है। इसके परे धर्म की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। आत्मानुभूति ही आत्मधर्म है।

अन्तरोन्मुखीवृत्ति द्वारा आत्म-साक्षात्कार की स्थिति का नाम ही आत्मानुभूति है। वर्तमान प्रगट ज्ञान को पर-लक्ष्य से हटाकर स्व-तत्व में लगा देना ही आत्म-साक्षात्कार की स्थिति है। स्वानुभूति प्राप्त करने की प्रक्रिया निरन्तर तत्त्वमंथन की प्रक्रिया है, किन्तु तत्त्व-मंथनरूप विकल्पों से भी आत्मानुभूति प्राप्त नहीं होगी, क्योंकि कोई भी विकल्प ऐसा नहीं जो आत्मानुभूति को प्राप्त करा दे।

आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए समस्त जगत पर से दृष्टि हटानी होगी। समस्त जगत से आशय है कि आत्मा से भिन्न शरीर, कर्म आदि जड़ (अचेतन) द्रव्य तो 'पर' हैं ही, अपने आत्मा को छोड़कर अन्य चेतन पदार्थ भी 'पर' हैं तथा आत्मा में प्रति समय उत्पन्न होने वाली विकारी-अविकारी पर्यायें (दशा) भी दृष्टि का विषय नहीं हो सकतीं। उनसे भी परे अखण्ड त्रिकाली चैतन्य ध्रुव आत्म-तत्त्व है, वही एक मात्र दृष्टि का विषय है, जिसके आश्रय से आत्मानुभूति प्रगट होती है, जिसे कि धर्म कहा जाता है।

आत्मानुभूति के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी के लिए लेखक की अन्यकृति "अपने को पहचानिए" का अध्ययन करना चाहिये।

---

[1] समयसार, कलश १४४

जिस सम्यग्दर्शन के स्वरूप-निर्णय के लिये यहाँ सप्त-तत्त्व, देव-शास्त्र-गुरु, भेद-विज्ञान तथा आत्मानुभूति की चर्चा विस्तार से की है, उस सम्यग्दर्शन के आठ अंग कहे गये हैं :-

१. निःशंकित, २. निःकांक्षित, ३. निर्विचिकित्सा, ४. अमूढ़दृष्टि, ५. उपगूहन, ६. स्थितिकरण, ७. वात्सल्य, और ८. प्रभावना।

सम्यग्दर्शन प्राप्त होते ही ज्ञानी आत्मा के ये सहज ही प्रगट हो जाते हैं। परिणामस्वरूप उनके जीवन में सामान्यजन की अपेक्षा अनेक विशेषताएँ प्रगट हो जाती हैं।

असीम निशंकता, भोगों के प्रति अनासक्ति, समस्त पदार्थों की विकृत-अविकृत दशाओं में समता भाव, वस्तुस्वरूप की पैनी पकड़, पर के दोषों के प्रति उपेक्षाभाव, आत्मशुद्धि की वृद्धिगत दशा, विश्वासों की दृढ़ता, परिणामों की स्थिरता, गुण और गुणियों में अनुराग, आत्म-लीनता द्वारा अपनी और उपदेशादि द्वारा वस्तुतत्त्व की प्रभावना उनकी अपनी विशेषताएँ हैं।

मोक्षाभिलाषी को जैसे भी बने तैसे मर-पचकर भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। सम्यग्दर्शन की प्रतिज्ञा है कि :-

"मुझे ग्रहण करने से, ग्रहण करने वाले की इच्छा न होने पर भी, मुझे उसको बलात् मोक्ष ले जाना पड़ता है। इसलिए मुझे ग्रहण करने से पहले यदि वह विचार करे कि मोक्ष जाने की इच्छा बदल देंगे तो भी उससे काम नहीं चलेगा। मुझे ग्रहण करने के बाद, मुझे उसे मोक्ष पहुँचाना ही चाहिए।

कदाचित् मुझे ग्रहण करने वाला शिथिल हो जाय तो भी यदि हो सका तो उसी भव में अन्यथा अधिक से अधिक पन्द्रह भव में मुझे उसे मोक्ष पहुँचा देना चाहिए।

कदाचित् वह मुझे छोड़कर मुझसे विरुद्ध आचरण करे अथवा प्रबल से प्रबल मोह को धारण करे तो भी अर्द्ध-पुद्गल परावर्तन के अन्दर मुझे उसे मोक्ष पहुँचा देना चाहिए, ऐसी मेरी प्रतिज्ञा है[1]।"

---

[1] श्रीमद्राजचन्द्र (सम्यग्दर्शन, पृष्ठ ९-१०)

सम्यग्ज्ञान

ज्ञान आत्मा का गुण है। जानना उसकी पर्याय अर्थात् कार्य है। सम्यग्दर्शन से युक्त ज्ञान को सम्यग्ज्ञान और मिथ्यादर्शन से युक्त ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहते हैं। ज्ञान का सम्यक् और मिथ्यापन का निर्णय लौकिक विषयों की सामान्य जानकारी की सच्चाई पर आधारित न होकर सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन की उपस्थिति के आधार पर होता है।

मुक्ति के मार्ग में—अप्रयोजनभूत लौकिक जानकारी सत्य या असत्य कैसी ही क्यों न हो—आत्मानुभूति से सहित व्यक्ति का समस्त ज्ञान सम्यग्ज्ञान है तथा अप्रयोजनभूत लौकिक जानकारी चाहे सत्य ही क्यों न हो, यदि उसे आत्मानुभूति प्रगट नहीं हुई है तो, उसका समस्त ज्ञान मिथ्याज्ञान ही कहा जायगा। सम्यग्ज्ञान में 'सम्यक्' पद सम्यग्दर्शन की उपस्थिति का सूचक है और 'मिथ्या' शब्द मिथ्यादर्शन की[1]।

ज्ञान पांच प्रकार का होता है—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, और केवलज्ञान। सम्यग्दृष्टि के मति, श्रुत और अवधिज्ञान क्रमशः सुमति, सुश्रुत, और सुअवधि कहे जाते हैं तथा मिथ्यादृष्टि के कुमति, कुश्रुत और कुअवधि। मन.पर्यय और केवलज्ञान सम्यग्दृष्टि के ही होते हैं, इसलिए उनमें इस प्रकार का भेद नहीं होता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के पांच और मिथ्यादृष्टि के तीन—कुल ज्ञान आठ प्रकार के होते हैं[2]। इनमें सम्यग्दृष्टि के होने वाला पांच प्रकार का ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहा जाता है और मिथ्यादृष्टि के होने वाला तीन प्रकार का ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है। इन सबका विस्तृत विवेचन जिन-शास्त्रों में उपलब्ध है।

---

[1] सर्वार्थसिद्धि, अ० १, सूत्र ३१-३२ की टीका

[2] (क) णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदओहि अणाणणाणाणि।
मणपज्जय केवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च ॥
—द्रव्यसंग्रह, गाथा ५

(ख) गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३००-३०१

सम्यग्ज्ञान की परिभाषायें आगम में अनेक प्रकार से उपलब्ध होती हैं :-

(१) जिस-जिस प्रकार से जीवादि पदार्थ अवस्थित हैं, उस-उस प्रकार से उनका जानना, सम्यग्ज्ञान है[1]।

(२) जो ज्ञान वस्तु के स्वरूप को न्यूनता-रहित, अधिकता-रहित, विपरीतता-रहित, जैसा का तैसा सन्देह-रहित जानता है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं[2]।

(३) आत्मा और अनात्मा का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है[3]।

(४) आत्मस्वरूप का जानना ही सम्यग्ज्ञान है[4]।

सम्यग्ज्ञान की जितनी भी परिभाषाएँ दी हैं उन सबमें कोई अंतर नहीं है। वे मात्र भिन्न-भिन्न प्रकरणों में विभिन्न दृष्टिकोणों से लिखी गई हैं। सबसे यह तथ्य फलित होता है कि मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत जीवादि पदार्थों का विशेषकर आत्मतत्त्व का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय-रहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। लौकिक पदार्थों के ज्ञान से इसका कोई प्रयोजन नहीं है।

सम्यग्ज्ञान एक प्रकार से सच्चा तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान ही है। सम्यग्ज्ञान में परद्रव्यों का जानना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं, जितना कि निज आत्मतत्त्व का।

---

[1] सर्वार्थसिद्धि, अ० १, सूत्र १

[2] अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसंदेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः॥
— रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक ४२

[3] संसयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स।
गहणं सम्मं णाणं सायारमणेयभेयं तु॥
— द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२

[4] आपरूप को जानपनो, सो सम्यग्ज्ञान कला है।
— छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द २

बृहन्नयचक्र में कहा है – "जिनेन्द्र भगवान ने निजद्रव्य को जानने के लिए ही अन्य छः द्रव्यों का कथन किया है, अतः मात्र उन पर-रूप छः द्रव्यों का जानना सम्यग्ज्ञान नहीं है[1] ।"

जिनागम में सम्यग्ज्ञान की महिमा का कथन बहुत उपलब्ध होता है । यथा –

ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारन,
इहि परमामृत जन्मजरामृतु-रोग-निवारन ।।४।।

कोटि जन्म तप तपें, ज्ञान बिन कर्म झरें जे;
ज्ञानी के छिन में त्रिगुप्ति तें सहज टरें ते ।।५।।

धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै;
ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावै ।

तास ज्ञान को कारन, स्व-पर विवेक बखानौ;
कोटि उपाय बनाय भव्य, ताको उर आनौ ।।७।।

जे पूरव शिव गये, जाहिं, अरु आगे जैहैं;
सो सब महिमा ज्ञान-तनी, मुनिनाथ कहैं हैं ।

विषय-चाह दव-दाह, जगत-जन अरनि दझावै;
तास उपाय न आन, ज्ञान-घनघान बुझावै[2] ।।८।।

महिमा सम्यग्ज्ञान की, अरु विरागबल जोय ।
क्रिया करत फल भुंजतें, करमबंध नहिं होय[3] ।।

बहुविधि क्रिया कलेश सौं, शिवपद लहै न कोय ।
ज्ञानकला परकाशसौं, सहज मोख पद होय[4] ।।

---

[1] णिय दव्व जाणणट्ठं इयरं कहियं जिणेहिं छद्दव्वं ।
तम्हा पर छद्दव्वे जाणगभावो ण होइ सण्णाणं ।।

[2] छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ४,५,७,८

[3] नाटक समयसार, निर्जरा द्वार, छन्द ३

[4] वही, छन्द २६

जहाँ एक ओर सम्यग्ज्ञान के भरपूर गीत गाये हैं; वहीं दूसरी ओर आत्मज्ञान रहित आगमज्ञान, लौकिक ज्ञान एवं संयम की निरर्थकता भी दिल खोल कर स्पष्ट की है। यथा –

जो णवि जाणदि अप्पं, णाणसरूवं सरीरदो भिण्णं।
सो णवि जाणदि सत्थं, आगमपाढं कुणंतो वि[1]॥

जो ज्ञान-स्वभावी आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं जानता है, वह आगम का पाठ करते हुए भी शास्त्र को नहीं जानता है।

जदि पढदि बहुसुदाणि य जदि काहिदि बहुविहं य चारित्तं।
तं बालसुदं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीदं॥१००[2]॥

आत्मस्वभाव से विपरीत बहुत प्रकार के शास्त्रों का पढ़ना और बहुत प्रकार के चरित्र का पालन भी बालश्रुत व बालचरित है।

आत्मध्यान रतिर्ज्ञेयं विद्वत्तायाः परं फलम्।
अशेषशास्त्रज्ञातृत्वं संसारोऽभाषि धीधनैः[3]॥

आत्मध्यान में रति होना विद्वत्ता का उत्कृष्ट फल है और आत्मा के प्रति प्रेम के बिना अनेक शास्त्रों का पढ़ लेना संसार है।

विहिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते[4]॥

शरीर में आत्मबुद्धि रखने वाला बहिरात्मा सम्पूर्ण शास्त्रों को जान लेने पर भी मुक्त नहीं होता और देह से भिन्न आत्मा का अनुभव करने वाला अन्तरात्मा सोता और उन्मत्त हुआ भी मुक्त हो जाता है।

मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो[5]॥
आत्मज्ञान ही ज्ञान है, शेष सभी अज्ञान।
विश्वशांति का मूल है, वीतराग विज्ञान[6]॥

---

[1] कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४६४
[2] अष्टपाहुड़ (मोक्षपाहुड़) गाथा, १००
[3] योगसार, ७।४३
[4] समाधिशतक, श्लोक ९४
[5] छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ४
[6] वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका, पृष्ठ १

सम्यग्ज्ञान का मूल ज्ञेय 'पर' से विभक्त और 'निज' से अविभक्त आत्मा ही है। यही कारण है कि कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समयसार में उक्त एकत्व-विभक्त आत्मा को ही निजवैभव से दिखाने की प्रतिज्ञा की है[1]। उनका वह सम्यग्ज्ञानरूपी वैभव स्याद्वाद की भाषा में अभिव्यक्त जिनागम के सेवन से, समस्त विपक्ष के निरसन में समर्थ निर्बाध युक्तियों के अवलम्बन से, परमगुरु वीतराग सर्वज्ञ अरहन्त एवं अपरमगुरु गणधरादि आचार्य परम्परा गुरु के उपदेश से प्रचुर संवेदन स्वरूप स्व-संवेदन से उत्पन्न हुआ है[2]। उन्होंने अपने उक्त वैभव से समझाने की बात कहकर श्रोताओं से भी उनके द्वारा इसी प्रकार से समझकर प्रमाणित करने का आग्रह किया है।

उक्त कथन के आधार पर यह स्पष्ट है कि सम्यग्ज्ञान का आधार स्याद्वाद की भाषा में कथित अनेकान्तात्मक वस्तुस्वरूप है। यद्यपि वह आगम के माध्यम से और परम्परा गुरु के उपदेश से जाना जाता है तथापि उसमें अंधश्रद्धा के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि उसे तर्क की कसौटी पर पूरी तरह कसकर खरा उतरने पर ही स्वीकार करने की बात शामिल है। तथा तर्क की कसौटी पर खरा उतरने के बाद भी जब तक उसका अनुभव नहीं कर लिया जाता है तब तक वह निजवैभव नहीं बन सकता है। उसे निजवैभव बनने के लिए आगम, उपदेश, तर्क और अनुभव के मार्ग से गुजरना होगा।

आगम और उपदेश की चर्चा 'शास्त्र और गुरु' के प्रकरण में हो चुकी है, अनुभव की बात भी बहुत कुछ भेद-विज्ञान और आत्मानुभूति के प्रकरणों में आ चुकी है। यहाँ अनेकान्त और स्याद्वाद को स्पष्ट करना आवश्यक है एवं प्रसंग-प्राप्त है। युक्ति का अवलम्बन अर्थात् तर्क की तुला का निर्णय करने के लिए प्रमाण और नयों की संक्षिप्त चर्चा भी अपेक्षित है, क्योंकि निर्णय न्याय से ही संभव है और न्याय नय-प्रमाणात्मक होता है।

---

[1] समयसार, गाथा ५

[2] वही, गाथा ५ की 'आत्मख्याति' टीका

अनेकान्त और स्याद्वाद

वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक है। प्रत्येक वस्तु अनेक गुणों-धर्मों से युक्त है। अनन्त धर्मात्मक वस्तु ही अनेकान्त है और वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को समझाने वाली सापेक्ष कथन पद्धति को स्याद्वाद कहते हैं[1]। अनेकान्त और स्याद्वाद में द्योत्य-द्योतक सम्बन्ध है।

समयसार की आत्मख्याति टीका के परिशिष्ट में आचार्य अमृतचन्द्र इस सम्बन्ध में लिखते हैं :–

"स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करने वाला अर्हन्त सर्वज्ञ का अस्खलित (निर्बाध) शासन है। वह (स्याद्वाद) कहता है कि अनेकान्त स्वभाव वाली होने से सब वस्तुएँ अनेकान्तात्मक हैं।··· जो वस्तु तत् है वही अतत् है, जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है – इस प्रकार एक वस्तु में वस्तुत्व की उत्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है[2]।"

अनेकान्त शब्द 'अनेक' और 'अन्त' दो शब्दों से मिलकर बना है। अनेक का अर्थ होता है – एक से अधिक। एक से अधिक दो भी हो सकते हैं और अनन्त भी। दो और अनन्त के बीच में अनेक अर्थ सम्भव हैं। तथा अन्त का अर्थ है धर्म अर्थात् गुण। प्रत्येक वस्तु में अनन्त गुण विद्यमान हैं, अतः जहाँ अनेक का अर्थ अनन्त होगा वहाँ अन्त का अर्थ गुण लेना चाहिये। इस व्याख्या के अनुसार अर्थ होगा – अनन्तगुणात्मक वस्तु ही अनेकान्त है। किन्तु जहाँ अनेक का अर्थ दो

---

[1] अनेकान्तात्मकार्थ कथनं स्याद्वादः।

– लघीयस्त्रय टीका (अनेकान्त और स्याद्वाद, पृष्ठ २२)

[2] स्याद्वादो हि समस्तवस्तुतत्त्वसाधकमेकमस्खलितं शासनमर्हत्सर्वज्ञस्य। स तु सर्वमनेकांतात्मकमित्यनुशास्ति,···············तत्र यदेव तत्तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकं, यदेव सत्तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येकवस्तुवस्तुत्व-निष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः।

– समयसार, पृष्ठ ५७१-५७२

लिया जायगा वहाँ अन्त का अर्थ धर्म होगा। तब यह अर्थ होगा – परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले दो धर्मों का एक ही वस्तु में होना अनेकान्त है।

स्यात्कार का प्रयोग धर्मों में होता है, गुणों में नहीं, सर्वत्र ही स्यात्कार का प्रयोग धर्मों के साथ किया है, कहीं भी अनुजीवी गुणों के साथ नहीं[1]। यद्यपि 'धर्म' शब्द का सामान्य अर्थ गुण होता है, शक्ति आदि नामों से भी उसे अभिहित किया जाता है; तथापि गुण और धर्म में कुछ अन्तर है। प्रत्येक वस्तु में अनन्त शक्तियाँ हैं, जिन्हें गुण या धर्म कहते हैं। उनमें से जो शक्तियाँ परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं या सापेक्ष होती हैं, उन्हें धर्म कहते हैं। जैसे – नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता, सत्-असत्, भिन्नता-अभिन्नता, आदि। जो शक्तियाँ विरोधाभास से रहित हैं, निरपेक्ष हैं, उन्हें गुण कहते हैं। जैसे – आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख आदि; पुद्गल में रूप, रस, गंध आदि।

जिन गुणों में परस्पर कोई विरोध नहीं है, एक वस्तु में उनकी एक साथ सत्ता तो सभी वादी-प्रतिवादी सहज स्वीकार कर लेते हैं; किन्तु जिनमें विरोध सा प्रतिभासित होता है, उन्हें स्याद्वादी ही स्वीकार करते हैं। इतर जन उनमें से किसी एक पक्ष को ग्रहण कर पक्षपाती हो जाते हैं। अतः अनेकान्त की परिभाषा में परस्पर विरुद्ध शक्तियों के प्रकाशन पर विशेष बल दिया गया है।

प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले अनेक युगल (जोड़े) पाये जाते हैं, अतः वस्तु केवल अनेक धर्मों (गुणों) का ही पिण्ड नहीं है – किन्तु परस्पर विरोधी दिखने वाले अनेक धर्म-युगलों का भी पिण्ड है। उन परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्मों को स्याद्वाद अपनी सापेक्ष शैली से प्रतिपादन करता है।

प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म हैं। उन सबका कथन एक साथ तो सम्भव नहीं है – क्योंकि शब्दों की शक्ति सीमित है, वे एक समय में एक ही धर्म को कह सकते हैं। अतः अनन्त धर्मों में एक विवक्षित

---

[1] जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग ४, पृष्ठ ५०१

धर्म मुख्य होता है, जिसका कि प्रतिपादन किया जाता है, बाकी अन्य सभी धर्म गौण होते हैं, क्योंकि उनके सम्बन्ध में अभी कुछ नहीं कहा जा रहा है। यह मुख्यता और गौणता वस्तु में विद्यमान धर्मों की अपेक्षा नहीं, किन्तु वक्ता की इच्छानुसार होती है। विवक्षा-अविवक्षा वाणी के भेद हैं, वस्तु के नहीं। वस्तु में तो सभी धर्म प्रति समय अपनी पूरी हैसियत से विद्यमान रहते हैं, उनमें मुख्य-गौण का कोई प्रश्न ही नहीं है; क्योंकि वस्तु में तो उन परस्पर विरोधी धर्मों को अपने में धारण करने की शक्ति है, वे तो उस वस्तु में अनादिकाल से विद्यमान हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे। उनको एक साथ कहने की सामर्थ्य वाणी में न होने से वाणी में विवक्षा-अविवक्षा और मुख्य-गौण का भेद पाया जाता है।

वस्तु तो पर से निरपेक्ष ही है। उसे अपने गुण-धर्मों को धारण करने में किसी पर की अपेक्षा रंचमात्र भी नहीं है। उसमें नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता, आदि सब धर्म एक साथ विद्यमान रहते हैं। द्रव्य दृष्टि से वस्तु जिस समय नित्य है, पर्याय दृष्टि से उसी समय अनित्य भी है, वाणी से जब नित्यता का कथन किया जायगा तब अनित्यता का कथन सम्भव नहीं है। अतः जब हम वस्तु की नित्यता का प्रतिपादन करेंगे तब श्रोता यह समझ सकता है कि वस्तु नित्य ही है, अनित्य नहीं। अतः हम 'किसी अपेक्षा नित्य भी है', ऐसा कहते हैं। ऐसा कहने से उसके ज्ञान में यह बात सहज आ जावेगी कि किसी अपेक्षा अनित्य भी है। भले ही वाणी के असामर्थ्य के कारण वह बात कही नहीं जा रही है। अतः वाणी में स्याद्-पद का प्रयोग आवश्यक है, स्याद्-पद अविवक्षित धर्मों को गौण करता है, पर अभाव नहीं। उसके प्रयोग बिना अभाव का भ्रम उत्पन्न हो सकता है।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष में स्याद्वाद का अर्थ इस प्रकार दिया है :-

"अनेकान्तमयी वस्तु का कथन करने की पद्धति स्याद्वाद है। किसी भी एक शब्द या वाक्य के द्वारा सारी की सारी वस्तु का युगपत् कथन करना अशक्य होने से प्रयोजनवश कभी एक धर्म को मुख्य करके कथन करते हैं और कभी दूसरे को। मुख्य धर्म को सुनते हुए श्रोता के

अन्य धर्म भी गौण रूप से स्वीकार होते रहें, उनका निषेध न होने पावे, इस प्रयोजन से अनेकान्तवादी अपने प्रत्येक वाक्य के साथ स्यात् या कथंचित् शब्द का प्रयोग करता है[1] ।"

कुछ विचारक कहते हैं कि स्याद्वाद शैली में 'भी' का प्रयोग है, 'ही' का नहीं। उन्हें 'भी' में समन्वय की सुगंध और 'ही' में हठ की दुर्गन्ध आती है, पर यह उनका बौद्धिक भ्रम ही है। स्याद्वाद शैली में जितनी आवश्यकता 'भी' के प्रयोग की है, उससे कम आवश्यकता 'ही' के प्रयोग की नहीं। 'भी' और 'ही' का समान महत्त्व है।

'भी' समन्वय की सूचक न होकर 'अनुक्त' की सत्ता की सूचक है और 'ही' आग्रह की सूचक न होकर 'दृढ़ता' की सूचक है। इनके प्रयोग का एक तरीका है और वह है – जहाँ अपेक्षा न बताकर मात्र यह कहा जाता है कि 'किसी अपेक्षा'[2] वहाँ 'भी' लगाना जरूरी है और जहाँ अपेक्षा स्पष्ट बता दी जाती है वहाँ 'ही' लगाना अनिवार्य है। जैसे – प्रत्येक वस्तु कथंचित् नित्य भी है और कथंचित् अनित्य भी है। यदि इसी को हम अपेक्षा लगाकर कहेंगे तो इस प्रकार कहना होगा कि प्रत्येक वस्तु द्रव्य की अपेक्षा नित्य ही है और पर्याय की अपेक्षा अनित्य ही।

'भी' यह बताता है कि हम जो कह रहे हैं वस्तु मात्र उतनी ही नहीं है, अन्य भी है; किन्तु 'ही' यह बताता है कि अन्य कोणों से देखने पर वस्तु और बहुत कुछ है, किन्तु जिस कोण से यह बात बताई गई है वह ठीक वैसी ही है, इसमें कोई शंका की गुँजाइश नहीं है। अतः 'ही' और 'भी' एक दूसरे की पूरक हैं, विरोधी नहीं। 'ही' अपने विषय के बारे में सब शंकाओं का अभाव कर दृढ़ता प्रदान करती है और 'भी' अन्य पक्षों के बारे में मौन रह कर भी उनकी संभावना की नहीं, निश्चित सत्ता की सूचक है।

'भी' का अर्थ ऐसा करना कि जो कुछ कहा जा रहा है उसके विरुद्ध भी सम्भावना है, गलत है। सम्भावना अज्ञान की सूचक है

---

[1] जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग ४, पृष्ठ ४९७

[2] 'किसी अपेक्षा' के भाव को स्यात् या कथंचित् शब्द प्रगट करते हैं।

अर्थात् यह प्रगट करती है कि मैं नहीं जानता और कुछ भी होगा। जब कि स्याद्वाद, संभावनावाद नहीं; निश्चयात्मक ज्ञान होने से, प्रमाण है। 'भी' में से यह अर्थ नहीं निकलता कि इसके अतिरिक्त क्या है, मैं नहीं जानता; बल्कि यह निकलता है कि इस समय उसे कहा नहीं जा सकता अथवा उसके कहने की आवश्यकता नहीं है। अपूर्ण को पूर्ण न समझ लिया जाय इसके लिए 'भी' का प्रयोग है। दूसरे शब्दों में जो बात अंश के बारे में कही जा रही है उसे पूर्ण के बारे में न जान लिया जाय इसके लिए 'भी' का प्रयोग है, अनेक मिथ्या एकान्तों के जोड़-तोड़ के लिए नहीं।

इसी प्रकार 'ही' का प्रयोग 'आग्रही' का प्रयोग न होकर इस बात को स्पष्ट करने के लिए है कि अंश के बारे में जो कहा गया है, वह पूर्णतः सत्य है। उस दृष्टि से वस्तु वैसी ही है, अन्य रूप नहीं।

समन्तभद्रादि आचार्यों ने पद-पद पर 'ही' का प्रयोग किया है[1]। 'ही' के प्रयोग का समर्थन श्लोकवार्तिक में इस प्रकार किया है :-

> वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थ निवृत्तये।
> कर्त्तव्यमन्यथानुक्तसमत्वात्तस्य कुत्रचित् ॥

वाक्यों में 'ही' का प्रयोग अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति और दृढ़ता के लिए करना ही चाहिए, अन्यथा कहीं-कहीं वह वाक्य नहीं कहा गया सरीखा समझा जाता है[2]। युक्त्यनुशासन श्लोक ४१-४२ में आचार्य समन्तभद्र ने भी इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया है।

इसी सन्दर्भ में सिद्धान्ताचार्य पंडित कैलाशचन्दजी लिखते हैं :-

"इसी तरह वाक्य में एवकार (ही) का प्रयोग न करने पर भी सर्वथा एकान्त को मानना पड़ेगा; क्योंकि उस स्थिति में अनेकान्त का निराकरण अवश्यम्भावी है। जैसे – 'उपयोग लक्षण जीव का ही है' – इस वाक्य में एवकार (ही) होने से यह सिद्ध होता है कि उपयोग

---

[1] सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादि चतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥ – आप्तमीमांसा, श्लोक १५

[2] श्लोकवार्तिक, अ० १, सूत्र ६, श्लोक ५३

लक्षण अन्य किसी का न होकर जीव का ही है। अतः यदि इसमें से 'ही' को निकाल दिया जाय तो उपयोग अजीव का भी लक्षण हो सकता है[1]।'

प्रमाण वाक्य में मात्र स्यात् पद का प्रयोग होता है, किन्तु नय वाक्य में स्यात् पद के साथ-साथ एव (ही) का प्रयोग भी आवश्यक है[2]। 'ही' सम्यक् एकान्त की सूचक है और 'भी' सम्यक् अनेकान्त की।

यद्यपि जैन दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन कहा जाता है, तथापि यदि उसे सर्वथा अनेकान्तवादी मानें तो यह भी तो एकान्त हो जायगा। अतः जैन दर्शन में अनेकान्त में भी अनेकान्त को स्वीकार किया गया है। जैन दर्शन सर्वथा न एकान्तवादी है न सर्वथा अनेकान्तवादी। वह कथंचित् एकान्तवादी और कथंचित् अनेकान्तवादी है। इसी का नाम अनेकान्त में अनेकान्त है। कहा भी है :—

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्[3] ॥

प्रमाण और नय हैं साधन जिसके, ऐसा अनेकान्त भी अनेकान्त स्वरूप है; क्योंकि सर्वांशग्राही प्रमाण की अपेक्षा वस्तु अनेकान्तस्वरूप एवं अंशग्राही नय की अपेक्षा वस्तु एकान्तरूप सिद्ध है।

जैन दर्शन के अनुसार एकान्त भी दो प्रकार का होता है और अनेकान्त भी दो प्रकार का – यथा सम्यक् एकान्त और मिथ्या एकान्त, सम्यक् अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त। निरपेक्ष नय मिथ्या एकान्त है और सापेक्ष नय सम्यक् एकान्त है तथा सापेक्ष नयों का समूह अर्थात् श्रुतप्रमाण सम्यक् अनेकान्त है और निरपेक्ष नयों का समूह अर्थात् प्रमाणाभास मिथ्या अनेकान्त है। कहा भी है :—

जं वत्थु अणेयन्तं, एयंतं तं पि होदि सविपेक्खं।
सुयणाणेण णएहि य, णिरवेक्खं दीसदे णेव[4] ॥

---

[1] जैन न्याय, पृष्ठ ३००

[2] नयचक्र, पृष्ठ १२६

[3] स्वयंभूस्तोत्र, श्लोक १०३ (अरनाथ स्तुति, श्लोक १८)

[4] कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २६१

जो वस्तु अनेकान्त रूप है वही सापेक्ष दृष्टि से एकान्त रूप भी है। श्रुतज्ञान की अपेक्षा अनेकान्त रूप है और नयों की अपेक्षा एकान्त रूप है। बिना अपेक्षा के वस्तु का रूप नहीं देखा जा सकता है।

अनेकान्त में अनेकान्त की सिद्धि करते हुए अकलंकदेव लिखते हैं :–

"यदि अनेकान्त को अनेकान्त ही माना जाय और एकान्त का सर्वथा लोप किया जाय तो सम्यक् एकान्त के अभाव में, शाखादि के अभाव में वृक्ष के अभाव की तरह, तत्समुदायरूप अनेकान्त का भी अभाव हो जायगा। अतः यदि एकान्त ही स्वीकार कर लिया जावे तो फिर अविनाभावी इतर धर्मों का लोप होने पर प्रकृत शेष का भी लोप होने से सर्व लोप का प्रसंग प्राप्त होगा[१]।"

सम्यगेकान्त नय है और सम्यगनेकान्त प्रमाण[२]। अनेकान्तवाद सर्वनयात्मक है। जिस प्रकार बिखरे हुए मोतियों को एक सूत्र में पिरो देने से मोतियों का सुन्दर हार बन जाता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न नयों को स्याद्वादरूपी सूत में पिरो देने से सम्पूर्ण नय श्रुतप्रमाण कहे जाते हैं[३]।

परमागम के बीजस्वरूप अनेकान्त में सम्पूर्ण नयों (सम्यक् एकान्तों) का विलास है, उसमें एकान्तों के विरोध को समाप्त करने की सामर्थ्य है[४]; क्योंकि विरोध वस्तु में नहीं, अज्ञान में है। जैसे – एक हाथी को अनेक जन्मान्ध व्यक्ति छूकर जानने का यत्न करें और जिसके हाथ में हाथी का पैर आ जाय वह हाथी को खम्भे के समान, पेट पर हाथ फेरने वाला दीवाल के समान, कान पकड़ने वाला सूंप के समान और सूंड पकड़ने वाला केले के स्तम्भ के समान कहे तो वह सम्पूर्ण हाथी के बारे में सही नहीं होगा। क्योंकि देखा है अंश और कहा गया सर्वांश को।

१ राजवार्तिक, अ० १, सूत्र ६ की टीका, पृष्ठ ३५
२ वही, अ० १ सूत्र ६ की टीका, पृष्ठ ३५
३ स्याद्वादमंजरी, श्लोक ३० की टीका
४ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २

यदि अंश देखकर अंश का ही कथन करे तो गलत नहीं होगा। जैसे – यदि यह कहा जाय कि हाथी का पैर खम्भे के समान है, कान सूप के समान हैं, पेट दीवाल के समान है तो कोई असत्य नहीं, क्योंकि यह कथन सापेक्ष है और सापेक्ष नय सत्य होते हैं; अकेला पैर हाथी नहीं है, अकेला पेट भी हाथी नहीं है, इसी प्रकार कोई भी अकेला अंग अंगी को व्यक्त नहीं कर सकता है।

'स्यात्' पद के प्रयोग से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ जो कथन किया जा रहा है, वह अंश के सम्बन्ध में है, पूर्ण वस्तु के सम्बन्ध में नहीं। हाथी और हाथी के अंगों के कथन में 'ही' और 'भी' का प्रयोग इस प्रकार होगा :–

हाथी किसी अपेक्षा दीवाल के समान भी है, किसी अपेक्षा खंभे के समान भी है, और किसी अपेक्षा सूप के समान भी है। यहाँ अपेक्षा बताई नहीं गई है, मात्र इतना कहा गया है कि 'किसी अपेक्षा', अतः 'भी' लगाना आवश्यक हो गया। यदि हम अपेक्षा बताते जावें तो 'ही' लगाना अनिवार्य हो जायगा, अन्यथा भाव स्पष्ट न होगा, कथन में दृढ़ता नहीं आयेगी, जैसे – हाथी का पैर खम्भे के समान ही है, कान सूप के समान ही हैं और पेट दीवाल के समान ही है।

उक्त कथन अंश के बारे में पूर्ण सत्य है, अतः 'ही' लगाना आवश्यक है तथा पूर्ण के बारे में आंशिक सत्य है, अतः 'भी' लगाना जरूरी है।

जहाँ 'स्यात्' पद का प्रयोग न भी हो तो भी विवेकी जनों को यह समझना चाहिये कि वह अनुक्त (साइलेन्ट) है। कसायपाहुड़ में इस सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है :–

"स्यात् शब्द के प्रयोग का अभिप्राय रखने वाला वक्ता यदि स्यात् शब्द का प्रयोग न भी करे तो भी उसके अर्थ का ज्ञान हो जाता है। अतएव स्यात् शब्द का प्रयोग नहीं करने पर भी कोई दोष नहीं है। कहा भी है – स्यात् शब्द के प्रयोग की प्रतिज्ञा का अभिप्राय रखने से 'स्यात्' शब्द का अप्रयोग देखा जाता है[1]।"

---

[1] जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग ४, पृष्ठ ५०१

यद्यपि प्रत्येक वस्तु अनेक परस्पर विरोधी धर्म-युगलों का पिण्ड है तथापि वस्तु में सम्भाव्यमान परस्पर विरोधी धर्म ही पाये जाते हैं, असम्भाव्य नहीं। अन्यथा आत्मा में नित्यत्व-अनित्यत्वादि के समान चेतन-अचेतनत्व धर्मों की सम्भावना का प्रसंग आयेगा। इस बात को 'धवला' में इस प्रकार स्पष्ट किया है :-

"प्रश्न – जिन धर्मों का एक आत्मा में एक साथ रहने का विरोध नहीं है, वे रहें, परन्तु सम्पूर्ण धर्म तो एक साथ एक आत्मा में रह नहीं सकते ?

उत्तर – कौन ऐसा कहता है कि परस्पर विरोधी और अविरोधी समस्त धर्मों का एक साथ एक आत्मा में रहना सम्भव है? यदि सम्पूर्ण धर्मों का एक साथ रहना मान लिया जावे तो परस्पर विरुद्ध चैतन्य-अचैतन्य, भव्यत्व-अभव्यत्व आदि धर्मों का एक साथ आत्मा में रहने का प्रसंग आ जायेगा। इसलिए सम्पूर्ण परस्पर विरोधी धर्म एक आत्मा में रहते हैं, अनेकान्त का यह अर्थ नहीं समझना चाहिए; किन्तु जिन धर्मों का जिस आत्मा में अत्यन्त अभाव नहीं, वे धर्म उस आत्मा में किसी काल और किसी क्षेत्र की अपेक्षा युगपत् भी पाये जा सकते हैं, ऐसा हम मानते हैं[1]।"

अनेकान्त और स्याद्वाद का प्रयोग करते समय यह सावधानी रखना बहुत आवश्यक है कि हम जिन परस्पर विरोधी धर्मों की सत्ता वस्तु में प्रतिपादित करते हैं, उनकी सत्ता वस्तु में सम्भावित है भी या नहीं; अन्यथा कहीं हम ऐसा भी न कहने लगें कि कथंचित् जीव चेतन हैं व कथंचित् अचेतन भी। अचेतनत्व की जीव में सम्भावना नहीं है, अतः यहाँ अनेकान्त बताते समय अस्ति-नास्ति के रूप में घटाना चाहिए। जैसे – जीव चेतन (ज्ञान-दर्शन स्वरूप) ही है, अचेतन नहीं।

वस्तुतः चेतन और अचेतन तो परस्पर विरोधी धर्म हैं और नित्यत्व-अनित्यत्व परस्पर विरोधी नहीं, विरोधी प्रतीत होने वाले धर्म हैं, वे परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, हैं नहीं। उनकी सत्ता एक

[1] धवला पु० १, खण्ड १, भाग १, सूत्र ११, पृष्ठ १६७

द्रव्य में एक साथ पाई जाती है। अनेकान्त परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों का प्रकाशन करता है।

जिनेन्द्र भगवान का स्याद्वाद रूपी नयचक्र अत्यन्त पैनी धार वाला है। इसे अत्यन्त सावधानी से चलाना चाहिए, अन्यथा धारण करने वाले का ही मस्तक भंग हो सकता है[1]। इसे चलाने के पूर्व नयचक्र चलाने में चतुर गुरुओं की शरण लेना चाहिये[2]। उनके मार्गदर्शन में जिनवाणी का मर्म समझना चाहिए।

अनेकान्त और स्याद्वाद सिद्धान्त इतना गूढ़ व गम्भीर है कि इसे गहराई से और सूक्ष्मता से समझे बिना इसकी तह तक पहुँचना असम्भव है, क्योंकि ऊपर-ऊपर से देखने पर यह एकदम गलत सा प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी के दर्शन-शास्त्र के भूतपूर्व प्रधानाध्यापक श्री फणिभूषण अधिकारी ने लिखा है :-

"जैन धर्म के स्याद्वाद सिद्धांत को जितना गलत समझा गया है, उतना किसी अन्य सिद्धान्त को नहीं। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं, उन्होंने भी इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया है। यह बात अल्पज्ञ पुरुषों के लिए क्षम्य हो सकती थी, किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान विद्वान के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा, यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्म के दर्शन-शास्त्र के मूलग्रन्थों के अध्ययन करने की परवाह नहीं की[3]।"

हिन्दी के प्रसिद्ध समालोचक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं :-

"प्राचीन दर्जे के हिन्दू धर्मावलम्बी बड़े-बड़े शास्त्री तक अब भी नहीं जानते कि जैनियों का स्याद्वाद किस चिड़िया का नाम है[4]।"

---

[1] अत्यन्तनिशितधारं, दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।
खंडयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम्॥
— पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ५९

[2] गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसंचाराः। — वही, श्लोक ५८

[3] तीर्थंकर वर्द्धमान, पृष्ठ ९२

[4] वही

श्री महामहोपाध्याय सत्य सम्प्रदायाचार्य पं० स्वामी राममिश्रजी शास्त्री, प्रोफेसर संस्कृत कॉलेज, वाराणसी लिखते हैं :–

"मैं कहाँ तक कहूँ, बड़े-बड़े नामी आचार्यों ने अपने ग्रंथों में जो जैनमत का खंडन किया है वह ऐसा किया है जिसे सुन-देख हंसी आती है, स्याद्वाद यह जैन धर्म का अभेद्य किला है, उसके अन्दर वादी-प्रतिवादियों के मायामयी गोले नहीं प्रवेश कर सकते।

जैन धर्म के सिद्धान्त प्राचीन भारतीय तत्त्वज्ञान और धार्मिक पद्धति के अभ्यासियों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इस स्याद्वाद से सर्व सत्य विचारों का द्वार खुल जाता है[1]।"

संस्कृत के उद्‌भट विद्वान् डॉ० गंगानाथ झा के विचार भी द्रष्टव्य हैं :–

"जब से मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन सिद्धान्त का खंडन पढ़ा है तब से मुझे विश्वास हुआ कि इस सिद्धान्त में बहुत कुछ है जिसे वेदान्त के आचार्य ने नहीं समझा और जो कुछ अब तक जैन धर्म को जान सका हूँ उससे मेरा दृढ़ विश्वास हुआ है कि यदि वे जैन धर्म को उसके मूल ग्रन्थों से देखने का कष्ट उठाते तो उन्हें जैन धर्म का विरोध करने की कोई बात नहीं मिलती[2]।"

'स्यात्' पद का ठीक-ठीक अर्थ समझना अत्यन्त आवश्यक है। इसके सम्बन्ध में बहुत भ्रम प्रचलित हैं – कोई स्यात् का अर्थ संशय करते हैं, कोई शायद, तो कोई सम्भावना। इस तरह से स्याद्वाद को शायदवाद, संशयवाद, या सम्भावनावाद बना देते हैं। 'स्यात्' शब्द तिङन्त न होकर 'निपात' है। वह संदेह का वाचक न होकर एक निश्चित अपेक्षा का वाचक है। 'स्यात्' शब्द को स्पष्ट करते हुए तार्किकचूड़ामणि आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं :–

वाक्येष्वनेकांतद्योती गम्यं प्रति विशेषणं।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात् तवकेवलिनामपि[3] ॥१०३॥

---

[1] तीर्थंकर वर्द्धमान, पृष्ठ ९२

[2] वही, पृष्ठ ९४

[3] आप्तमीमांसा, श्लोक १०३

'स्यात्' शब्द निपात है। वाक्यों में प्रमुख यह शब्द अनेकान्त का द्योतक वस्तुस्वरूप का विशेषण है।

शायद, संशय और सम्भावना में एक अनिश्चय है; अनिश्चय अज्ञान का सूचक है। स्याद्वाद में कहीं भी अज्ञान की झलक नहीं है। वह जो कुछ कहता है, दृढ़ता के साथ कहता है; वह कल्पना नहीं करता, सम्भावनाएँ व्यक्त नहीं करता।

श्री प्रो० आनन्द शंकर बाबू भाई ध्रुव लिखते हैं :-

"महावीर के सिद्धान्त में बताए गये स्याद्वाद को कितने ही लोग संशयवाद कहते हैं, इसे मैं नहीं मानता। स्याद्वाद संशयवाद नहीं है, किन्तु वह एक दृष्टि-बिन्दु हमको उपलब्ध करा देता है। विश्व का किस रीति से अवलोकन करना चाहिये यह हमें सिखाता है। यह निश्चय है कि विविध दृष्टि-बिन्दुओं द्वारा निरीक्षण किये बिना कोई भी वस्तु सम्पूर्ण स्वरूप में आ नहीं सकती। स्याद्वाद (जैन धर्म) पर आक्षेप करना यह अनुचित है[1]।"

आचार्य समन्तभद्र ने स्याद्वाद को केवलज्ञान के समान सर्वतत्त्व प्रकाशक माना है। भेद मात्र प्रत्यक्ष और परोक्ष का है[2]।

अनेकान्त और स्याद्वाद का सिद्धान्त वस्तु स्वरूप के सही रूप का दिग्दर्शन करने वाला होने से आत्म-शान्ति के साथ-साथ विश्व शान्ति का भी प्रतिष्ठापक सिद्धान्त है। इस संबंध में सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान एवं राष्ट्रकवि रामधारीसिंह 'दिनकर' लिखते हैं :-

"इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेकान्त का अनुसंधान भारत की अहिंसा साधना का चरम उत्कर्ष है और सारा संसार इसे जितनी ही शीघ्र अपनायेगा, विश्व में शान्ति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी[3]।"

---

[1] तीर्थंकर वर्द्धमान, पृष्ठ ६४

[2] स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदःसाक्षादसाक्षाच्च, ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्॥

— आप्तमीमांसा, श्लोक १०५

[3] संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ १३७

प्रमाण और नय

अनेकान्त और स्याद्वाद के स्पष्टीकरण में 'प्रमाण' और 'नय' शब्दों का प्रयोग कई बार हुआ है। इसका मूल कारण यह है कि प्रमाण और नयों के द्वारा ही वस्तु का स्वरूप जाना जाता है,[1] अतः उनका स्पष्टीकरण प्रसंग-प्राप्त है।

जिससे वस्तु तत्त्व का निर्णय किया जाता है, उसे सम्यक् रूप से जाना जाता है, उसे प्रमाण कहते हैं; अतः सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है[2]। सम्यग्ज्ञान को पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। यह भी बताया जा चुका है कि वह पाँच प्रकार का होता है। उनमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं तथा अवधिज्ञान और मनःपर्यय देश-प्रत्यक्ष हैं। केवलज्ञान पूर्ण-प्रत्यक्ष है[3]। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान मतिज्ञान प्रमाण के ही रूप हैं। इन सब का विस्तृत वर्णन जैन न्याय-शास्त्रों में उपलब्ध है।

स्याद्वाद पद से मुद्रित परमागम रूप श्रुतज्ञान के भेद नय हैं। यद्यपि श्रुतज्ञान भी एक प्रमाण है, तथापि उसके भेद नय हैं। प्रमाण सर्वग्राही होता है और नय अंशग्राही। यद्यपि नय प्रमाण के ही भेद हैं, फिर भी उन्हें प्रमाण से भिन्न माना गया है; क्योंकि नय प्रमाण से गृहीत वस्तु के एकदेश को ग्रहण करते हैं।

अनन्त धर्मात्मक होने के कारण वस्तु बड़ी ही जटिल है। उसको जाना जा सकता है, पर कहना कठिन है। अत. उसके एक-एक धर्म का क्रमपूर्वक निरूपण किया जाता है। कौन धर्म पहिले और कौन धर्म

---

[1] प्रमाणनयैरधिगमः। — तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सूत्र ६

[2] सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं। — न्यायदीपिका

[3] (क) आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्। — तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सूत्र ११,१२

(ख) मति श्रुत दोय परोक्ष, अक्ष मन तैं उपजाहीं।
अवधिज्ञान मनपर्जय दो हैं देश-प्रतच्छा॥

सकल द्रव्य के गुन अनन्त, परजाय अनन्ता।
जानै एकै काल, प्रगट केवलि भगवन्ता॥

— छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ३,४

बाद में कहा जाय, इसका कोई नियम नहीं है। ज्ञानी वक्ता अपने अभिप्रायानुसार जब एक धर्म का कथन करता है उस समय अन्य धर्म कथन में गौण रहते हैं; निषिद्ध नहीं। अतः ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं[1]। तिलोयपण्णत्ति में कहा है :-

"णाणं होदि पमाणं णम्रो वि णादुस्स हिदयभावत्थो ।।

सम्यग्ज्ञान को प्रमाण और ज्ञाता के हृदय के अभिप्राय को नय कहा जाता है[2]। कहीं-कहीं वक्ता के अभिप्राय को नय कहा गया है[3]।

नय तीन प्रकार के कहे गये हैं—ज्ञान नय, शब्द नय और अर्थ नय[4]। ज्ञान नय की मुख्यता से ज्ञाता के अभिप्राय को और शब्द नय की मुख्यता से वक्ता के अभिप्राय को नय कहा है।

नय अनन्त हो सकते हैं। जितने वचन-विकल्प हैं, उतने ही नय भी सम्भव हैं[5]। क्योंकि प्रत्येक वस्तु की शक्तियाँ अनन्त हैं, अतः प्रत्येक शक्ति की अपेक्षा भेद को प्राप्त होकर नय अनन्त विकल्परूप हो जाते हैं[6]। मुख्य, गौण विवक्षा के कारण वक्ता के अभिप्राय भी अनेक प्रकार के होते हैं, इस कारण भी नय अनेक प्रकार के होते हैं।

नयचक्र भी उतना ही जटिल है जितनी कि उसकी विषयभूत अनन्तधर्मात्मक वस्तु। विस्तार तो बहुत है, किन्तु आलापपद्धति व वृहन्नयचक्र में मूल नयों के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है :-

णिच्छयववहारणया मूलिम भेयाणयाण सव्वाणं।
णिच्छयसाहणहेऊ दव्वयपज्जत्थिया मुणह[7] ।।

---

[1] ज्ञातुरभिप्रायो नयः —आलापपद्धति, श्लोक ६ की टीका

[2] तिलोयपण्णत्ति, अ० १, गाथा ८३

[3] स्याद्वादमंजरी, श्लोक २८ की टीका, पृष्ठ २४३

[4] कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २६५

[5] जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा।
—गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ८९४

[6] सर्वार्थसिद्धि, अ० १, सूत्र ३३ की टीका, पृष्ठ १०२

[7] (क) आलापपद्धति, गाथा ३
(ख) नयचक्र, गाथा १८२

सर्व नयों के मूल – निश्चय और व्यवहार ये दो नय हैं। द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक, ये दोनों निश्चय नय के साधन या हेतु हैं।

उक्त छन्द का अर्थ इस प्रकार भी किया जाता है :–

नयों के मूलभूत निश्चय और व्यवहार दो भेद माने गये हैं, उसमें निश्चय नय तो द्रव्याश्रित और व्यवहार नय पर्यायाश्रित है, ऐसा समझना चाहिए[1]।

पंचाध्यायीकार ने व्यवहार और पर्यायार्थिक नय को कथंचित् एक बताते हुए कहा है – पर्यायार्थिक कहो या व्यवहार नय – इन दोनों का एक ही अर्थ है; क्योंकि इस नय के विषय में जितना भी व्यवहार होता है, वह उपचार मात्र है[2]।

उक्त कथन में जहाँ एक ओर निश्चय और व्यवहार नय को मूल नय कहा गया है, वहीं दूसरी ओर :–

दो चेव य मूलणाया, भणिया दव्वत्थ पज्जयत्थगया।
अण्णे असंखसंखा ते तब्भेया मुणेयव्वा[3]॥

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो ही मूल नय कहे हैं। अन्य असंख्यात संख्या को लिए हुए इनके ही भेद जानना चाहिए।

उक्त दोनों ही दृष्टियों को लक्ष्य में रखकर विचार करने पर मूल नय चार रहते हैं :–

(१) निश्चय (२) व्यवहार
(३) द्रव्यार्थिक (४) पर्यायार्थिक

यद्यपि नयों के प्रभेदों में जाना यहाँ सम्भव नहीं है, तथापि मूल नयों का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है; क्योंकि इनके जाने बिना जिनवाणी का मर्म नहीं समझा जा सकता। नयचक्र में कहा है :–

[1] आचार्य शिवसागर स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ ५६१

[2] पर्यायार्थिक नय इति यदि वा व्यवहार एव नामेति।
एकार्थो यस्मादिह सर्वोऽप्युपचारमात्रः स्यात्॥
– पंचाध्यायी, अ० १, श्लोक ५२१

[3] नयचक्र, गाथा १८३

"जो नयदृष्टि से विहीन हैं उन्हें वस्तु के स्वरूप का बोध नहीं हो सकता और वस्तु के स्वरूप को जाने बिना सम्यग्दर्शन कैसे हो सकता है[1] ?

प्रमाण की विषयभूत वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है[2]। उसके सामान्यांश को ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिक नय है और विशेषांश को ग्रहण करने वाला पर्यायार्थिक नय है। इनकी परिभाषा नयचक्र में इस प्रकार दी गई है :-

पज्जय गउणं किच्चा दव्वंपि य जो हु गिह्णइ लोए।
सो दव्वत्थिय भणिओ विवरीओ पज्जयत्थिणओ[3] ॥

जो पर्याय को गौण करके द्रव्य को ग्रहण करता है उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं और जो द्रव्य को गौण करके पर्याय को ग्रहण करता है उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं।

जो अभेद व अनुपचार से वस्तु का निश्चय करता है वह निश्चय नय है और भेद तथा उपचार से वस्तु का व्यवहार करना व्यवहार नय है[4]। निश्चय और व्यवहार नय की और भी अनेक परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं। स्वाश्रित कथन को निश्चय और पराश्रित कथन को व्यवहार[5], अभेद को निश्चय और भेद को व्यवहार[6], भूतार्थ को निश्चय और अभूतार्थ को व्यवहार[7], मुख्य को निश्चय और गौण को व्यवहार[8] कहते हैं।

---

[1] नयचक्र, गाथा १८१

[2] सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः। — परीक्षामुख, अ० ४, सूत्र १

[3] नयचक्र, गाथा १८६

[4] आलापपद्धति (नयचक्र, पृष्ठ २२७)

[5] आत्माश्रितो निश्चयनयः, पराश्रितो व्यवहारनयः।
— समयसार गाथा २७२ की 'आत्मख्याति' टीका

[6] (क) तत्र निश्चयो अभेदविषयः — नयचक्र : देवसेन, पृष्ठ २५
(ख) नयचक्र : माइल्ल धवल, पृष्ठ १३२

[7] (क) समयसार, गाथा ११ (ख) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ५

[8] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ४

अनेक शास्त्रों का आधार लेकर पंडितप्रवर टोडरमलजी ने निश्चय-व्यवहार का सांगोपांग विवेचन किया है[1], जिसका सार इस प्रकार है :-

(१) सच्चे निरूपण को निश्चय और उपचरित निरूपण को व्यवहार कहते हैं[2]।

(२) एक ही द्रव्य के भाव को उस रूप ही कहना निश्चय नय है और उपचार से उक्त द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भाव स्वरूप कहना व्यवहार नय है। जैसे – मिट्टी के घड़े को मिट्टी का कहना निश्चय नय का कथन है और घी का संयोग देखकर घी का घड़ा कहना व्यवहार नय का कथन है[3]।

(३) जिस द्रव्य की जो परिणति हो उसे उस ही की कहना निश्चय नय है और उसे ही अन्य द्रव्य की कहने वाला व्यवहार नय है[4]।

(४) व्यवहार नय स्वद्रव्य को, परद्रव्य को व उनके भावों को व कारण कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है तथा निश्चय नय उन्हीं को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता है[5]।

अतः निश्चय नय सत्यार्थ है और व्यवहार नय असत्यार्थ है।

समयसार गाथा ११ एवं उसकी टीका में तथा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक ५ में स्पष्ट रूप से कहा है :-

निश्चय नय भूतार्थ है, सत्यार्थ है; क्योंकि वह वस्तु के सत्य (शुद्ध) स्वरूप का उद्घाटन करता है। व्यवहार नय अभूतार्थ है, असत्यार्थ है; क्योंकि वह वस्तु के असत्य (संयोगी, अशुद्ध) स्वरूप का कथन करता है। जैसे – जीव व देह एक हैं, यह कथन व्यवहार नय का है और

---

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २४८-२५७
[2] वही, पृष्ठ २४९
[3] वही, पृष्ठ २४९
[4] वही, पृष्ठ २५०
[5] वही, पृष्ठ २५१

जीव व देह एक नहीं हैं, भिन्न-भिन्न हैं, यह कथन निश्चय नय का है[1]। यहाँ जीव और शरीर के संयोग को देखकर उन्हें एक कहा गया है, अतः यह कथन व्यवहार नय का हुआ तथा जीव और शरीर एक क्षेत्र में रहने पर भी वस्तुतः भिन्न-भिन्न ही हैं, अतः निश्चय नय उन्हें भिन्न ही कहता है।

व्यवहार नय निषेध्य है और निश्चय नय निषेधक[2]। इस विषय को पंचाध्यायी में इस प्रकार स्पष्ट किया है :-

"व्यवहार नय स्वयं ही मिथ्या उपदेश देता है, अतः मिथ्या है और इसी से वह प्रतिषेध्य है। इसीलिए व्यवहार नय पर दृष्टि रखने वाला मिथ्यादृष्टि माना गया है। तथा निश्चय नय स्वयं भूतार्थ होने से समीचीन है और इसका विषय निर्विकल्पक या वचन अगोचर के समान अनुभवगम्य है, अथवा जो निश्चयदृष्टि वाला है वही सम्यग्दृष्टि है और वही कार्यकारी है। अतः निश्चय नय उपादेय है किन्तु उसके सिवाय अन्य नयवाद उपादेय नहीं हैं[3]।"

कुन्दकुन्दाचार्य देव ने निश्चय नय से जाने हुए जीवादि सप्ततत्त्वों को सम्यग्दर्शन कहा है[4] और निश्चय नय का आश्रय लेने वाले

---

[1] ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो।।
— समयसार, गाथा २७

[2] एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।
— समयसार, गाथा २७२

[3] व्यवहारः किल मिथ्या स्वयमपि मिथ्योपदेशकश्च यतः।
प्रतिषेध्यस्तस्मादिह मिथ्यादृष्टिस्तदर्थदृष्टिश्च।।
स्वयमपि भूतार्थत्वाद्भवति स निश्चयनयो हि सम्यक्त्वम्।
अविकल्पवदतिवागिव स्यादनुभवैकगम्यवाच्यार्थः।।
यदि वा सम्यग्दृष्टिस्तद्दृष्टिः कार्यकारी स्यात्।
तस्मात् स उपादेयो नोपादेयस्तदन्यनयवादः।।
— पंचाध्यायी, अ० १, श्लोक ६२८-३०

[4] भूयत्थेणाभिगदा, जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं।। — समयसार, गाथा १३

मुनिवरों को ही निर्वाण प्राप्त होना बताया है[1]। व्यवहार नय का कथन अज्ञानी जीवों को परमार्थ समझाने के लिए किया गया है[2]।

जिस प्रकार म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा के बिना समझाना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार व्यवहार के बिना निश्चय का उपदेश सम्भव नहीं है, अतः जिनवाणी में व्यवहार का कथन आया है। म्लेच्छ को समझाने के लिए भले ही म्लेच्छ भाषा का आश्रय लेना पड़े पर म्लेच्छ हो जाना तो ठीक नहीं, उसी प्रकार निश्चय का प्रतिपादक होने से भले ही व्यवहार से कथन हो, पर उसका अनुकरण करना तो ठीक नहीं[3]।

व्यवहार नय असत्यार्थ और हेय है फिर भी उसे जैन शास्त्रों में स्थान प्राप्त है, क्योंकि व्यवहार स्वयं सत्य नहीं है फिर भी सत्य की प्रतीति और अनुभूति में निमित्त है।

प्रारंभिक भूमिका में परमार्थ को समझने के लिये व्यवहार की उपयोगिता है क्योंकि वह निश्चय का प्रतिपादक है। जैसे – हिमालय पर्वत से निकलकर बंगाल की खाड़ी में गिरनेवाली सैंकड़ों मील लम्बी गंगा नदी की लम्बाई तो क्या चौड़ाई को भी आँखों से नहीं देखा जा सकता है। अतः उसकी लम्बाई-चौड़ाई और बहाव के मोड़ों को जानने के लिए हमें नक्शे का सहारा लेना पड़ता है। पर जो गंगा नक्शे में है वह वास्तविक नहीं है, उससे तो मात्र गंगा को समझा जा सकता है, उससे कोई पथिक प्यास नहीं बुझा सकता है, प्यास बुझाने के लिए असली गंगा के किनारे ही जाना होगा। उसी प्रकार व्यवहार द्वारा कथित वचन नक्शे की गंगा के समान हैं। उनसे समझा जा सकता है, पर उनके आश्रय से आत्मानुभूति प्राप्त नहीं की

---

[1] णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं।

– समयसार, गाथा २७२

[2] अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा: देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥

– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ६

[3] समयसार गाथा ८ की 'आत्मख्याति' टीका

जा सकती है। आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए निश्चय नय के विषयभूत त्रिकाल शुद्धात्मा का ही आश्रय लेना आवश्यक है। अतः व्यवहार नय तो मात्र जानने (समझने) के लिए प्रयोजनवान है।

व्यवहार नय मात्र दूसरों को ही समझाने के लिए उपयोगी नहीं, वरन् जब तक स्वयं निश्चय नय द्वारा वर्णित वस्तु को न पहिचान सके तब तक व्यवहार द्वारा वस्तु को स्वयं समझना भी उपयोगी है। व्यवहार को उपचार मात्र मान कर उसके द्वारा मूलभूत वस्तु का निर्णय करना उपयोगी है। व्यवहार को निश्चय के समान सत्य समझ लेना उपयुक्त नहीं है[1]।

उक्त नयवाद शुद्धात्म-तत्त्व की खोज या प्रतिपादन के काल में ही चलता है, अनुभूति के काल में नहीं। कहा भी है :-

तच्चाणेसणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।
णो आहारणसमये पच्चक्खो अणुहवो जह्मा[2] ।।

तत्त्वान्वेषण काल में ही आत्मा युक्तिमार्ग से अर्थात् निश्चय-व्यवहार नयों द्वारा जाना जाता है, परन्तु आत्मा की आराधना के समय वे विकल्प नहीं होते; क्योंकि उस समय तो आत्मा स्वयं प्रत्यक्ष ही है।

सर्व नयपक्ष हेय ही है, क्योंकि वस्तु स्वरूप पक्षातिक्रान्त है। समयसार में कहा है :-

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो[3] ।।

व्यवहार नय कहता है कि जीव कर्मों से बंधा है, किन्तु निश्चय नय कहता है अबद्ध है। यह दोनों नयों का पक्ष है और जो पक्षातिक्रान्त है वह समयसार है।

---

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २५३

[2] नयचक्र, गाथा २६८

[3] समयसार, गाथा १४२

इसकी टीका में लिखा है कि समस्त नयपक्ष का छोड़ने वाला ही विकल्पों को छोड़ता है और वही समयसार का अनुभव करता है।

यहाँ यह बात बहुत सावधानी से समझने योग्य है कि यहाँ नयों का पक्ष छुड़ाया है, निश्चय नय का विषयभूत अर्थ नहीं। व्यवहार नय का मात्र पक्ष ही नहीं, विषयभूत अर्थ भी छोड़ने योग्य है; पर निश्चय नय का मात्र पक्ष छोड़ना है, उसके विषयभूत अर्थ को तो ग्रहण करना है।

समयसार कलश १२२ से भी इसकी पुष्टि होती है :–

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि।
नास्ति बंधस्तदत्यागात्तत्त्यागाद्बंध एव हि॥

यहाँ यही तात्पर्य है कि शुद्ध नय त्यागने योग्य नहीं है, क्योंकि उसके अत्याग से बंध नहीं होता और उसके त्याग से बंध होता है।

नयचक्र में निश्चय नय को पूज्यतम सिद्ध करते हुए लिखा है :– निश्चय नय एकत्व को प्राप्त कराके ज्ञानरूपी चैतन्य में स्थापित करता है। परमानन्द को उत्पन्न कर वीतराग बनाता है। इतना काम करके वह स्वतः निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार वह जीव को नयपक्ष से अतीत कर देता है। इस कारण वह पूज्यतम है[1]।

वस्तु स्वरूप के सही ज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि हम निश्चय नय के कथन को सही जानकर उसका श्रद्धान करें और व्यवहार नय के द्वारा किये गये कथन को प्रयोजनवश किया गया उपचरित कथन जानकर उसका श्रद्धान छोड़ें[2]।

यदि कोई कहे कि फिर जैन शास्त्रों में दोनों नयों के ग्रहण की बात क्यों लिखी है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए पंडितप्रवर टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में लिखा है :–

"जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है' ऐसा जानना। तथा कहीं व्यवहारनय की

---

[1] नयचक्र : देवसेन, पृष्ठ ३२

[2] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २५०

मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे 'ऐसे है नहीं, निमित्तादिकी अपेक्षा उपचार किया है' ऐसा जानना। इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है। तथा दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर ऐसे भी है, ऐसे भी है – इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है[1]।"

अनेकान्त, स्याद्वाद, प्रमाण और नयों की विस्तृत जानकारी के लिए जैन न्याय-शास्त्रों का अध्ययन किया जाना चाहिए।

मुक्तिमार्ग के पथिक को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिन प्रयोजनभूत सात या नव तत्त्वों, अनेकान्त-स्याद्वाद, निश्चय-व्यवहार, हेय-उपादेय, प्रमाण-नय आदि को जानना आवश्यक है, उन्हें समझाने के लिए शास्त्रों में अनेक उदाहरण दिये गये हैं।

जैसे – सात तत्त्वों में आस्रवादि तत्त्वों को नाव के उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया जाता है :–

नाव में छेद हो जावे तो उसमें पानी आने लगता है। पानी भरने से नाव डूब जाती है। अतः नाव को डूबने से बचाने के लिए छेद का बंद करना बहुत जरूरी है जिससे पानी का आना रुके। उसके बाद जो पानी आ चुका है उसे निकालना भी आवश्यक है। जब तक पूर्ण पानी न निकल जावे, नाव सुरक्षित नहीं है। आत्मा में मोह-राग-द्वेषरूपी छेद होने से द्रव्यकर्म रूपी पानी का आना आस्रव, भर जाना बंध, उनका रुकना संवर, निकलना निर्जरा और उससे पूर्णतः मुक्त हो जाना मोक्ष है।

इसी प्रकार अनेकान्त-स्याद्वाद और निश्चय-व्यवहार नय को समझाने के लिए क्रमशः बाप-बेटा, मामा-भानजा आदि के तथा मिट्टी का घड़ा और घी का घड़ा के उदाहरण दिये जाते हैं।

यद्यपि ये उदाहरण विषय को स्पष्ट करते हैं, विषय को समझाने के लिए उनसे सहयोग मिलता है, पर वहाँ एक सावधानी अपेक्षित है। वह यह कि उक्त सर्व-प्रयासों का एकमात्र फल आत्म-स्वरूप को

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २५१

समझना है, अतः जब तक उन्हें आत्म-स्वरूप पर घटित करके आत्मा का स्वरूप नहीं समझा जाता तब तक उनकी कोई उपयोगिता नहीं।

यदि नाव पर ही तत्त्वों को समझ लेना पर्याप्त हो तो फिर जगत में कौन तत्त्वज्ञ नहीं है; क्योंकि यह तो सब भली प्रकार जानते हैं कि नाव में पानी भरने से नाव डूब जायगी, छेद हो जाने पर सबसे पहले छेद बंद करना जरूरी है, बाद में पानी निकालना। यदि आप नाव पर सात तत्त्व समझ कर रह जावोगे तो नाव का मोक्ष होगा, आपका नहीं। अतः यदि अपना मोक्ष करना है तो उन्हें आत्मा पर घटित करना चाहिए।

इसी प्रकार अनेकान्त और स्याद्वाद की महिमा मामा-भानजा का संबंध जानने में नहीं है; क्योंकि जब सभी आगोपालादि इन सम्बन्धों से भली-भांति परिचित हैं, तो क्या वे स्याद्वादी हैं ? स्याद्वाद से भी अनेकान्तात्मक-आत्मस्वरूप को ही समझना है।

इसी प्रकार घी के घड़े और मिट्टी के घड़े के विवेक मात्र से कोई निश्चय-व्यवहारज्ञ नहीं हो जायगा। इनके सम्बन्ध में भी कौन भ्रम में है ? सभी अच्छी तरह जानते हैं कि घड़ा तो मिट्टी का ही है, घी का तो कहा जाता है।

इनके माध्यम से भी आत्म-स्वरूप को ही समझ कर आत्म-सन्मुख होना है, क्योंकि समस्त जिनागम की रचना का एकमात्र उद्देश्य आत्म-स्वरूप का प्रतिपादन करना है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए एकमात्र आत्मा का जानना-अनुभवना आवश्यक है, बाकी तो सब ज्ञान का सहज ज्ञेय बन जाते हैं।

अतः आत्मार्थी को चाहिए कि सर्वप्रथम इन सबका स्वरूप समझ कर इनके द्वारा आत्म-तत्त्व का विकल्प में निर्णय करे। तत्पश्चात् उस आत्म-तत्त्व ही में समा जावे, यही इनके जानने का सार है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की सार्थकता आत्म-स्वरूप में समा जाने में है। आत्म-स्वरूप में समा जाना ही सम्यक्चारित्र है।

सम्यक्चारित्र

सम्यक्चारित्र का मुक्ति के मार्ग में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिसके धारण किए बिना तीर्थंकर भी सिद्ध नहीं हो सकते और जिसके अभाव में समस्त रागी जीव संसार में भटक रहे हैं तथा जन्म-मरण के दुःख उठा रहे हैं[१], वह चारित्र ही साक्षात् धर्म है। मोह-राग-द्वेष आदि विकारी परिणामों से रहित आत्मा का परिणाम ही साम्यभाव है और वही चारित्र है[२]।

उक्त चारित्र की प्राप्ति आत्म-स्वरूप में लीनता, स्थिरता और रमणता से होती है[३]। वस्तुतः आत्म-स्वरूप में रमण करना ही चारित्र है। वस्तु का स्वभाव होने से वही धर्म है[४]। समता, माध्यस्थता, शुद्धोपयोग, वीतरागता, चारित्र, धर्म, और स्वभाव की आराधना ये सब एकार्थवाची हैं[५]।

चारित्र के पूर्व सम्यक् पद का प्रयोग अज्ञानपूर्वक आचरण की निवृत्ति के लिए है[६]। क्योंकि –

न हि सम्यग्व्यपदेशं चरित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात्[७]॥

अज्ञानपूर्वक धारण किया गया चारित्र सम्यक्चारित्र नहीं कहा जाता। अतः सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के बाद ही चारित्र की आराधना

---

[१] जिस बिना नहिं जिनराज सीझे, तू रुल्यो जग कीच में।
– दशलक्षण पूजन (संयम का छन्द)

[२] चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥
– प्रवचनसार, गाथा ७

[३] आप रूप में लीन रहे थिर, सम्यक्चारित सोई।
– छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द २

[४] स्वरूपे चरणं चारित्रं···तदेव वस्तुस्वभावत्वाद्धर्मः।
– प्रवचनसार, गाथा ७ की टीका

[५] (क) नयचक्र, गाथा ३५७ (ख) जैनधर्म-सार, पृष्ठ ५२

[६] अज्ञानपूर्वकाचरणनिवृत्त्यर्थं सम्यग्विशेषणम्। – सर्वार्थसिद्धि, अ० १, सूत्र १

[७] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ३८

करने को कहा गया है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से रहित चारित्र कुछ भी कार्यकारी नहीं होता; बल्कि जिस प्रकार अंधे पुरुष का दौड़ना उसके पतन का कारण होता है उसी प्रकार अज्ञानपूर्वक किया गया चारित्र उसके पतन का कारण होता है[1]। इसीलिए तो कहा है :–

सम्यक्ज्ञानी होय, बहुरि दृढ़ चारित लीजे[2]।

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च[3]॥

सर्वप्रथम सम्पूर्ण प्रयत्नपूर्वक सम्यक्त्व की उपासना करना चाहिए, क्योंकि उसके होने पर ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् होते हैं।

सम्मत्तं विणा सण्णाणं सच्चारित्तं ण होइ णियमेण[4]।

सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नियमपूर्वक नहीं होते हैं।

अतः अज्ञानान्धकार के समाप्त हो जाने पर ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त साधु पुरुष राग-द्वेष (कषायभाव) रूप हिंसादि की निवृत्ति के लिए चारित्र धारण करते हैं; क्योंकि राग-द्वेषरूप भावहिंसादि की निवृत्ति हो जाने पर द्रव्यहिंसा की निवृत्ति सहज हो ही जाती है। जैसे – अर्थ की अपेक्षा से रहित पुरुष राजादिक की सेवा नहीं करता, वैसे ही विरक्त पुरुष पापों में प्रवृत्त नहीं होता[5]।

पापों की प्रणालियाँ पांच हैं – हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह। इनसे विरक्ति का नाम भी चारित्र है[6]। उक्त पांच

[1] चारित्रं दर्शनज्ञानविकलं नार्थकृन्मतम्।
प्रपातायैव तद्धि स्यात् अन्धस्येव विवल्गितम्॥
– महापुराण, सर्ग २४, श्लोक १२२

[2] छहढाला, चौथी ढाल, छन्द १०

[3] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २१

[4] रयणसार, गाथा ४७

[5] रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ४८

[6] हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च।
पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम्॥
– रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ४९

पापों से पूर्णतः विरक्ति का नाम सकलचारित्र और अंशतः विरक्त होना देशचारित्र है।

हिंसादि पापों के त्यागरूप मुनि-श्रावक धर्म अहिंसादिरूप है। अहिंसादिरूप चारित्र का आशय मात्र बाह्य हिंसादि प्रवृत्तियों के त्यागरूप ही नहीं, अपितु अंतरंग कषाय शक्ति के अभावस्वरूप है; क्योंकि सम्यक्चारित्र का विरोधी कषायभाव है। चारित्रगुण के घात में निमित्त चारित्रमोहनीय कर्म है और उसकी प्रकृतियाँ पच्चीस कषायें हैं।

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्यख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्यख्यानावरण क्रोध, मान, माया लोभ; और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ; तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद—ये पच्चीस कषायें हैं।

इन्हें संक्षेप में राग-द्वेष कहते हैं। चार प्रकार का क्रोध, चार प्रकार का मान, भय, शोक, जुगुप्सा और अरति ये बारह द्वेष हैं और बाकी तेरह राग मानी गई हैं, अतः इनका अभाव ही राग-द्वेष का अभाव है। अतः निःकषाय भाव को ही वीतराग भाव भी कहते हैं।

इनमें अनन्तानुबंधी कषाय स्वरूपाचरण चारित्र को, अप्रत्याख्यानावरण देशचारित्र को, प्रत्याख्यानावरण सकलचारित्र को और संज्वलन यथाख्यातचारित्र को घातने में निमित्त है[1]। आत्मलीनता रूप चारित्र के बल से ज्यों-ज्यों इनका अभाव होता जाता है, त्यों-त्यों आत्मा में चारित्र की निर्मल दशा प्रगट होती जाती है।

अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ का अभाव तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के साथ ही हो जाता है, फलस्वरूप स्वरूपाचरणचारित्र भी प्रगट हो जाता है। उसके बाद शुद्धपरिणति की वृद्धि के बल से अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव होते ही देशचारित्र प्रगट हो जाता है और प्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव होते ही सकलचारित्र तथा संज्वलन कषाय का अभाव होते ही यथाख्यात चारित्र प्रगट हो जाता है।

---

[1] जैन सिद्धान्त प्रवेशिका : गोपालदास बरैया, पृष्ठ ६१

चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन के साथ ही स्वरूपाचरणचारित्र भी आत्मा में प्रगट हो जाता है[1], क्योंकि इस गुणस्थान में संयम का सर्वथा अभाव नहीं है[2]। सम्यक्त्व के होने पर नियमपूर्वक लब्धिरूप स्वानुभूति रहने में कारण यह है कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय अवश्य ही स्वानुभूत्यावरण कर्म का भी क्षयोपशम स्वतः हो जाता है[3]।

चारित्रपाहुड़ में आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्र की चर्चा सम्यक्त्वाचरण चारित्र और संयमाचरण चारित्र इन दो रूपों में की है और सम्यक्त्वाचरण चारित्र से भ्रष्ट संयम का आचरण करने वालों को मुक्ति का अभाव बतलाया है[4]।

संयमाचरण चारित्र के दो भेद किए हैं – सागार और निरागार (अनगार)। ससंग-गृहस्थों के सागार और सर्वसंग-रहित मुनियों के अनगार चारित्र होता है[5]। चरणानुयोग के शास्त्रों का मुख्य वर्ण्य-विषय श्रावक और मुनियों का आचरण ही है। उन शास्त्रों में बड़ी ही सूक्ष्मता से देशचारित्र और सकलचारित्र का विवेचन है।

हिंसादि पांचों पापों के त्यागरूप होने से मुनि-श्रावक धर्म अहिंसादिव्रत रूप है। अतः उन्हें समझने के लिए पहले अहिंसा-हिंसा, सत्य-असत्य, अचौर्य-चोरी, ब्रह्मचर्य-कुशील और अपरिग्रह-परिग्रह को समझना बहुत आवश्यक है। क्योंकि –

'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने[6]।'

हिंसा-अहिंसा की परिभाषा कसायपाहुड़ में इस प्रकार दी है :–

रागादीणमणुप्पा अहिंसगत्तं त्ति देसिदं समये।
तेसिं चे उप्पत्ती, हिंसेत्ति जिणेहि णिद्दिट्ठा[7]॥

---

[1] जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग १, पृष्ठ ८६
[2] युक्त्यनुशासन, श्लोक ५१ की टीका, पृष्ठ ७०
[3] पंचाध्यायी, अ० २, श्लोक ४०७
[4] अष्टपाहुड़ (चारित्रपाहुड़), गाथा १०
[5] (क) वही, गाथा २१
(ख) रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ५०
[6] श्री रामचरितमानस, पृष्ठ ३०
[7] जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग १, पृष्ठ २२५

आत्मा में रागादि भावों का उत्पन्न होना ही हिंसा है और रागादि भावों की उत्पत्ति नहीं होना ही अहिंसा है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक ४४ में भी ऐसा ही कहा गया है[1]। रागादि में क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और तीनों वेद – ये सभी कषायें सम्मिलित हैं। ये सब हिंसारूप ही हैं[2]।

हिंसा दो प्रकार की होती है – भावहिंसा और द्रव्यहिंसा। रागादि भावों की उत्पत्ति भावहिंसा है और उनके सद्भाव में जीवों के द्रव्य-प्राणों का घात द्रव्यहिंसा है। दोनों को ध्यान में रखते हुए आचार्य उमास्वामी ने अहिंसा की परिभाषा इस प्रकार दी है – 'प्रमत्तयोगात्-प्राणव्यपरोपणं हिंसा[3]।' प्रमाद के योग से निज या पर किसी भी प्राणी के प्राणों का घात ही हिंसा है।

हिंसा-अहिंसा की व्याख्या जिनागम में बड़ी ही सूक्ष्मता से की गई है। इसके संबंध में विशेष जानकारी के लिए इसी पुस्तक का परिशिष्ट १ देखें।

अहिंसा ही परम धर्म है क्योंकि धर्म वीतराग भाव का नाम है और अहिंसा रागादि भावों के अभावरूप होने से वीतराग भावरूप ही है। सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह समस्त व्रत निश्चय से वीतराग भावस्वरूप होने से अहिंसारूप ही हैं। झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह रागादि भावरूप होने से सभी हिंसा ही हैं। कहा भी है :–

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय[4] ॥

आत्मा के शुद्धोपयोगरूप प्राणों के घात होने के कारण यह सब असत्य, चोरी आदि हिंसा ही हैं – भेद करके तो मात्र शिष्यों को समझाया है।

---

[1] अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥

[2] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ६४

[3] तत्त्वार्थसूत्र, अ० ७, सूत्र १३

[4] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ४२

झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह में हिंसा की परिभाषा घटित होती है; क्योंकि प्रमाद (कषाय) के योग के बिना असत्य वचन, चोरी आदि कार्य सम्भव नहीं हैं और इनसे प्राणों का पीड़न भी होता ही है।

अंतरंग और बहिरंग के भेद से परिग्रह दो प्रकार का होता है। अंतरंग परिग्रह चौदह और बहिरंग दश प्रकार का माना गया है। इस प्रकार कुल परिग्रह चौबीस प्रकार का है।

अंतरंग परिग्रह के चौदह भेद हैं – मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्यादि नौ नोकषाय। इस प्रकार अंतरंग परिग्रह कषाय अर्थात् मोह-राग-द्वेषरूप होने से हिंसारूप ही हुआ क्योंकि राग-द्वेष-मोह की उत्पत्ति का नाम ही हिंसा है, यह सिद्ध किया जा चुका है।

धन-धान्यादि दश प्रकार के बाह्य परिग्रह का संग्रह भी रागादि बिना सम्भव नहीं, तथा प्राणियों के प्राणों के पीड़न के बिना भी असम्भव होने से हिंसा ही है।

अतः जिसमें सब पाप प्रणालियाँ गर्भित हैं, ऐसी हिंसा ही सबसे बड़ा अधर्म है और जिसमें सर्व धर्म गर्भित हैं; ऐसी अहिंसा ही परम धर्म है। यही कारण है कि जैनाचार के मूल में सर्वत्र अहिंसा विद्यमान है। जिसमें हिंसा न हो या अशक्यानुष्ठान होने से भूमिका-नुसार कम से कम हिंसा हो के आधार पर जैनाचरण निश्चित हुआ है।

रात्रिभोजन का त्याग, पानी छानकर काम में लेना, मद्य, मांस, मधु एवं पंचोदम्बर फलों के सेवन का निषेध, अभक्ष्य भक्षण का परिहार, यहाँ तक कि गुप्ति, समिति आदि सब में अहिंसा तिल में तेल की तरह व्याप्त है।

इन सब का वर्णन यहाँ सम्भव नहीं है, किन्तु इतना समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है कि हिंसा और अहिंसा के अंतरंग और बहिरंग दोनों पक्षों को समझकर, प्रत्येक आचार के अंग पर दोनों को घटित करना आवश्यक है।

प्रत्येक ज्ञानी आत्मा समस्त द्रव्य-भाव हिंसा को सर्वथा हेय ही मानता है, भले ही वह अपनी कमजोरी के कारण उसे पूर्णतः त्याग

करने में समर्थ न हो। अपनी असमर्थता के कारण उसका त्याग क्रमशः भूमिकानुसार करता है, पर किसी भी स्तर पर किसी भी प्रकार का प्राणी पीड़न व राग-द्वेष भाव को रखने योग्य नहीं मानता।

हिंसा को त्यागने और अहिंसा को जीवन में उतारने के स्तर अनेक हैं, उन स्तरों के यद्यपि असंख्य भेद हो सकते हैं व होते हैं, पर उन सबका कथन तो सम्भव नहीं; यही कारण है कि उन्हें देशचारित्र और सकलचारित्र के रूप में समझाया गया है।

देशचारित्र मात्र अणुव्रतादि के शुभ भावरूप या बाह्य क्रियारूप ही नहीं है, किन्तु वहाँ अनन्तानुबंधी और अप्रत्यख्यानावरण कषाय के अभाव के अनुपात में आंशिक शुद्ध वीतराग-परिणति प्रगट हुई है, वह है। वस्तुतः तो वही चारित्र है। साथ में रहने वाला शुभराग और बाह्यक्रिया को तो व्यवहार से चारित्र कहा जाता है।

अज्ञानी जीव के विवेक के अभाव होने से उक्त मूल बात ख्याल में आती नहीं और बाह्य किया पर दृष्टि रहती है। इसे स्पष्ट करते हुए पंडित टोडरमलजी लिखते हैं :-

"बाह्यक्रिया पर तो इनकी दृष्टि है और परिणाम सुधरने-बिगड़ने का विचार नहीं है। और यदि परिणामों का भी विचार हो तो जैसे अपने परिणाम होते दिखाई दें उन्हीं पर दृष्टि रहती है; परन्तु उन परिणामों की परम्परा का विचार करने पर अभिप्राय में जो वासना है उसका विचार नहीं करते। और फल लगता है सो अभिप्राय में जो वासना है उसका लगता है[1]।"

उन्होंने उसकी परिणति का चित्र इस प्रकार खींचा है :-

"यह उदासीन होकर शास्त्र में जो अणुव्रत-महाव्रतरूप व्यवहार-चारित्र कहा है उसे अंगीकार करता है, एकदेश अथवा सर्व देशहिंसादि पापों को छोड़ता है, उनके स्थान पर अहिंसादि पुण्यरूप कार्यों में प्रवर्तता है। तथा जिस प्रकार पर्यायाश्रित पाप कार्यों में अपना कर्तापना मानता था उसी प्रकार अब पर्यायाश्रित पुण्य कार्यों में अपना

---

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २३७-३८

कर्त्तापन मानने लगा। इस प्रकार पर्यायाश्रित कार्यों में अहंबुद्धि मानने की समानता हुई। जैसे – मैं जीवों को मारता हूँ, मैं परिग्रहधारी हूँ – इत्यादिरूप मान्यता थी, उसी प्रकार मैं जीवों की रक्षा करता हूँ, मैं नग्न, परिग्रह रहित हूँ – ऐसी मान्यता हुई। सो पर्यायाश्रित कार्यों में अहंबुद्धि वही मिथ्यादृष्टि है। यही समयसार कलश में कहा है :-

ये तु कर्तारमात्मानं, पश्यन्ति तमसा तताः।
सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षुताम् ॥१९९॥

अर्थ :- जो जीव मिथ्या अंधकार व्याप्त होते हुए अपने को पर्यायाश्रित क्रिया का कर्त्ता मानते हैं वे जीव मोक्षाभिलाषी होने पर भी जैसे अन्यमती सामान्य मनुष्यों को मोक्ष नहीं होता, उसी प्रकार उनको मोक्ष नहीं होता; क्योंकि कर्त्तापने के श्रद्धान की समानता है। तथा इस प्रकार आप कर्त्ता होकर श्रावकधर्म अथवा मुनिधर्म की क्रियाओं में मन-वचन-काय की प्रवृत्ति निरन्तर रखता है, जैसे उन क्रियाओं में भंग न हो वैसे प्रवर्तता है, परन्तु ऐसे भाव तो सराग हैं, चारित्र है वह वीतराग भावरूप है, इसलिए ऐसे साधन को मोक्षमार्ग मानना मिथ्याबुद्धि है।

प्रश्न :- सराग-वीतराग भेद से दो प्रकार का चारित्र कहा है सो किस प्रकार है?

उत्तर :- जैसे चावल दो प्रकार के हैं – एक तुष सहित हैं और एक तुष रहित हैं। वहाँ ऐसा जानना कि – तुष है वह चावल का स्वरूप नहीं है, चावल में दोष है। कोई समझदार तुष सहित चावल का संग्रह करता था, उसे देखकर कोई भोला तुषों को ही चावल मानकर संग्रह करे तो वृथा खेदखिन्न ही होगा। वैसे ही चारित्र दो प्रकार का है – एक सराग है, एक वीतराग है। वहाँ ऐसा जानना कि – जो राग है वह चारित्र का स्वरूप नहीं है, चारित्र में दोष है। तथा कितने ही ज्ञानी प्रशस्त-राग सहित चारित्र धारण करते हैं, उन्हें देखकर कोई अज्ञानी प्रशस्त-राग को ही चारित्र मानकर संग्रह करे तो वृथा खेदखिन्न ही होगा[१]।"

---

[१] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २४४-२४५

वास्तविक चारित्र तो वीतराग भाव ही है। यद्यपि चारित्र के सराग चारित्र और वीतराग चारित्र ऐसे भेद किये गये हैं तथापि कर्मक्षय का कारण तो एक वीतराग चारित्र ही है। प्रवचनसार की तत्वप्रदीपिका में आचार्य अमृतचंद्र ने स्पष्ट लिखा है :–

"दर्शनज्ञानप्रधान चारित्र से, यदि वह वीतराग हो तो मोक्ष प्राप्त होता है, और उससे ही, यदि वह सराग हो तो देवेन्द्र-असुरेन्द्र-नरेन्द्र के वैभवक्लेशरूप बंध की प्राप्ति होती है। अतः मुमुक्षुओं को इष्ट फल वाला होने से वीतरागचारित्र ग्रहण करने योग्य और अनिष्टफल वाला होने से सरागचारित्र त्यागने योग्य है[1]।"

इसी बात को आगे चलकर और भी स्पष्ट किया है जो इस प्रकार है :– "जब यह आत्मा धर्मपरिणत स्वभाव वाला होता हुआ शुद्धोपयोग परिणति को धारण करता है – बनाये रखता है, तब विरोधी शक्ति से रहित होने के कारण अपने कार्य करने में समर्थ होने से साक्षात् मोक्ष को प्राप्त करता है और जब वह धर्मपरिणत स्वभाव वाला होने पर भी शुभोपयोग परिणति के साथ युक्त होता है, तब विरोधी शक्ति से सहित होने के कारण स्वकार्य करने में असमर्थ है और कथंचित् विरुद्ध कार्य करने वाला है – ऐसे चारित्र से युक्त होने से जैसे अग्नि से गर्म किया गया घी किसी मनुष्य के ऊपर डाल दिया जावे तो उसकी जलन से दुःखी ही होता है, उसी प्रकार वह स्वर्ग सुख के बन्ध को ही प्राप्त होता है; अतः शुद्धोपयोग उपादेय और शुभोपयोग हेय है[2]।

उक्त संदर्भ में पंचाध्यायीकार का निम्न मन्तव्य दृष्टव्य है :–

रूढे: शुभोपयोगोऽपि ख्यातश्चारित्रसंज्ञया।
स्वार्थक्रियामकुर्वाणः सार्थनामा न निश्चयात् ॥७५९॥

किन्तु बन्धस्य हेतुः स्यादर्थात्तत्प्रत्यनीकवत्।
नासौ वरं वरं यः स नापकारोपकारकृत् ॥७६०॥

---

[1] प्रवचनसार, गाथा ६ की टीका

[2] वही, गाथा ११ की टीका

विरुद्धकार्यकारित्वं नास्यासिद्धं विचारसात् ।
बन्धस्यैकान्ततो हेतोः शुद्धादन्यत्र सम्भवात् ।।७६१।।
नोह्यं प्रज्ञापराधत्वान्निर्जरा हेतुरञ्जसा ।
अस्ति नाबन्धहेतुर्वा शुभो नाप्यशुभावहः ।।७६२।।
कर्मादानक्रियारोधः स्वरूपाचरणं य यत् ।
धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात् सैष चारित्र संज्ञकः[1] ।।७६३।।

यद्यपि रूढ़ि से शुभोपयोग भी चारित्र के नाम से प्रसिद्ध है, परन्तु वह अपनी अर्थक्रिया को करने में असमर्थ है इसलिए वह निश्चय से सार्थक नाम वाला नहीं है ।

किन्तु वह अशुभोपयोग के समान वास्तव में बंध का कारण है, अतः वह श्रेष्ठ नहीं है । श्रेष्ठ वह है जो न तो अपकार करता है और न उपकार करता है ।

शुभोपयोग विरुद्ध कार्यकारी है, यह बात विचार करने पर असिद्ध भी प्रतीत नहीं होती; क्योंकि शुभोपयोग एकान्त से बंध का कारण होने से वह शुद्धोपयोग के अभाव में ही पाया जाता है ।

बुद्धि दोष से ऐसी तर्कणा भी नहीं करना चाहिए कि शुभोपयोग एकदेश निर्जरा का कारण है, क्योंकि न तो शुभोपयोग ही बंध के अभाव का कारण है और न अशुभोपयोग ही ।

कर्मों के ग्रहण करने की क्रिया का रुक जाना ही स्वरूपाचरण है । वही धर्म है, वही शुद्धोपयोग है, और वही चारित्र है ।

अणुव्रत और महाव्रत शुभ भावरूप हैं, अतः इन्हें व्यवहार से चारित्र कहा जाता है । वास्तविक चारित्र तो वीतराग भावरूप ही होता है । इस संदर्भ में पंडित टोडरमलजी ने लिखा है :–

"तथा हिंसादि सावद्य योग के त्याग को चारित्र मानता है, वहाँ महाव्रतादिरूप शुभयोग को उपादेयपने से ग्राह्य मानता है । परन्तु तत्त्वार्थसूत्र में आस्रव पदार्थ का निरूपण करते हुए महाव्रत-

---

[1] पंचाध्यायी, श्लोक ७५९–७६३

अणुव्रत को भी आस्रवरूप कहा है। वे उपादेय कैसे हों? तथा आस्रव तो बन्ध का साधक है और चारित्र मोक्ष का साधक है; इसलिए महाव्रतादिरूप आस्रवभावों को चारित्रपना संभव नहीं होता; सकल कषायरहित जो उदासीन भाव उसीका नाम चारित्र है। जो चारित्र-मोह के देशघाती स्पर्द्धकों के उदय से महामन्द प्रशस्त राग होता है, वह चारित्र का मल है। उसे छूटता न जानकर उसका त्याग नहीं करते, सावद्य योग का ही त्याग करते हैं। परन्तु जैसे कोई पुरुष कन्दमूलादि बहुत दोष वाली हरितकाय का त्याग करता है और कितनी ही हरितकायों का भक्षण करता है, परन्तु उसे धर्म नहीं मानता; उसी प्रकार मुनि हिंसादि तीव्रकषायरूप भावों का त्याग करते हैं और कितने ही मन्दकषायरूप महाव्रतादि का पालन करते हैं, परन्तु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानते।

प्रश्न :– यदि ऐसा है तो चारित्र के तेरह भेदों में महाव्रतादि कैसे कहे हैं?

समाधान :– वह व्यवहार चारित्र कहा है, और व्यवहार नाम उपचार का है। सो महाव्रतादि होने पर ही वीतराग चारित्र होता है – ऐसा सम्बन्ध जानकर महाव्रतादि में चारित्र का उपचार किया है; निश्चय से निःकषायभाव है, वही सच्चा चारित्र है[1]।

मूलाचार में लिखा है :–

अकसायं तु चरित्तं कसायवसिओ असंदजो होदि।
उवसमदि जम्हि काले तक्काले संजदो होदि[2]॥

अकषायभाव को चारित्र कहते हैं। कषाय के वश होने वाला भाव असंयत है। जब कषाय का अभाव होता है तब संयत होता है।

आचार्य पूज्यपाद ने तो समाधिशतक में यहाँ तक लिखा है :–

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥८३॥

---

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २२९–३०

[2] मूलाचार, गाथा ९८२

हिंसादि पांच अव्रतों से पाप का और अहिंसादि पाँच व्रतों से पुण्य का बन्ध होता है। पुण्य और पाप दोनों कर्मों का विनाश मोक्ष है, अतः मोक्षार्थी को चाहिए कि वह अव्रतों के समान व्रतों को भी छोड़ दे।

व्रतों को अव्रतों की भांति छोड़ने के उपदेश में ध्यान देने योग्य बात यह है कि अव्रत और व्रत दोनों ही छोड़ने योग्य हैं और समान रूप से छोड़ने योग्य हैं। यहां दोनों ओर सीमा निश्चित की गई है। प्रथम यह है कि कोई यह न माने कि अव्रत कुछ अधिक हेय हैं और व्रत कुछ कम। हेयपने की दृष्टि से दोनों समान हैं। दूसरी यह कि व्रत छोड़कर अव्रत में नहीं जाना है, अपितु व्रत-अव्रत से परे जो वीतराग भाव हैं, उसमें जाना है; क्योंकि उपदेश तो ऊपर चढ़ने के लिए दिया जाता है, नीचे गिरने के लिए नहीं। व्रतों को छोड़कर अव्रतों में जायेंगे तो और भी बुरा होगा।

अतः जिन्हें संसार दुःखों से मुक्ति चाहिए व जिन्हें अपना सर्व प्रकार उदय करना अर्थात् पूर्ण सुखी होना हो; उन्हें जैसे भी बने, मर-पचकर भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त करके वीतराग चारित्र धारण करना चाहिए। संसार दुःखों से छूटने का एकमात्र यही उपाय है, इसमें ही सबका उदय है; अतः यही सर्वोदय तीर्थ है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकतारूप मोक्ष-मार्ग के सार को आचार्यकल्प पंडितप्रवर टोडरमलजी के निम्नलिखित शब्दों में समेटते हुए विराम लेते हैं :-

"इसलिए बहुत क्या कहें, जिस प्रकार से रागादि मिटाने का श्रद्धान हो वही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। जिस प्रकार रागादि मिटाने का जानना हो वही सम्यग्ज्ञान है। तथा जिस प्रकार रागादि मिटें वही आचरण सम्यक्चारित्र है। ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है[1]।"

उक्त मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होने से ही सबका उदय अर्थात् सर्वोदय संभव है।

---

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २१३

उपसंहार

यद्यपि भगवान महावीर की वाणी में शाश्वत सत्य का ही उद्घाटन हुआ है, तथापि उनकी वाणी में जो तत्त्व प्रस्फुटित हुए हैं, उनमें आज की समस्याओं के समाधान भी विद्यमान हैं। वस्तुतः समस्या तो मात्र एक ही है और वह है कि हम सब सुखी कैसे हों? सुख पाना और दुःख मेटना ही एकमात्र कार्य है। यह समस्या मात्र वर्तमान की ही नहीं, वरन् सर्व कालों और सर्व क्षेत्र की है।

अतः त्रैकालिक समस्याओं और वर्तमानकालीन समस्याओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है; इसीलिए उनके समाधान में भी कोई मूलभूत अंतर नहीं हो सकता।

सम्पूर्ण विश्व में सुख और शान्ति कैसे हो? यही तो आज की प्रमुख समस्या है।

हवा, पानी और भोजन आदि का जो महत्त्व हमारे जीवन में है उससे कम धर्म, धार्मिक आस्था और धार्मिक आदर्शों का नहीं; किन्तु हम हवा, पानी और भोजन आदि की जितनी आवश्यकता और उपयोगिता अनुभव करते हैं उतनी धर्म और धार्मिक आदर्शों की नहीं।

समस्त प्राणी सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं तदर्थ निरन्तर प्रयत्न भी करते हैं; किन्तु वास्तविक सुख क्या है? और सुखी होने का सच्चा मार्ग क्या है? यह न जानने के कारण उनके प्रयत्न सफल नहीं हो पाते।

हवा, पानी और भोजन आदि, भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं; किन्तु दुःख के कारण भौतिक जगत में नहीं, मानसिक जगत में विद्यमान हैं। जब तक अन्तर में मोह-राग-द्वेष की ज्वाला जलती रहेगी तब तक पूर्ण सुखी होना संभव नहीं है। मोह-राग-द्वेष की ज्वाला शान्त हो; इसके लिए धर्म, धार्मिक आस्था और धार्मिक आदर्शों से अनुप्रेरित जीवन का होना अत्यन्त आवश्यक है।

धार्मिक आदर्श भी ऐसे होने चाहिए जिनका सम्बन्ध जीवन की वास्तविकताओं से हो। जो आदर्श व्यावहारिक जीवन में सफलतापूर्वक न उतर सकें, जिनका सफल प्रयोग दैनिक जीवन में संभव न हो; वे आदर्श कल्पना-लोक के सुनहरे स्वप्न तो हो सकते हैं, किन्तु जीवन में उनकी उपयोगिता और उपादेयता संदिग्ध ही रहेगी।

व्यावहारिक जीवन की कसौटी पर जब हम तीर्थंकर भगवान महावीर के आदर्शों को कसते हैं तो वे पूर्णतः खरे उतरते हैं। हम स्पष्ट अनुभव करते हैं कि उनके आदर्श कल्पना-लोक की ऊंची उड़ानें नहीं, वे ठोस धरातल पर प्रयोगसिद्ध सिद्धान्त हैं और उनका पालन व्यावहारिक जीवन में मात्र संभव ही नहीं; वे जीवन को सुखी, शान्त और समृद्ध बनाने के लिए पूर्ण सफल एवं सहज साधन हैं।

भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित वस्तु-स्वरूप का दार्शनिक और सैद्धान्तिक पक्ष तथा आन्तरिक आचरण का विश्लेषण द्वितीय खण्ड में विस्तार से किया जा चुका है। यहाँ बाह्य व्यावहारिक पक्ष पर संक्षिप्त में विचार करना असंगत न होगा।

जीवन को पवित्र, सच्चरित्र एवं सुखी बनाने के लिए तीर्थंकर महावीर ने अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह – ये पांच महान् आदर्श लोक के सामने रखे।

व्यावहारिक जीवन में इनके सफल प्रयोग के लिए उन्होंने इन्हें साधु और सामान्यजनों (श्रावकों) को लक्ष्य में रखकर महाव्रत और अणुव्रत के रूप में प्रस्तुत किया।

उक्त आदर्शों को पूर्णरूप से जीवन में उतारने वाले साधु एवं शक्ति व योग्यतानुसार धारण करने वाले श्रावक कहलाते हैं। शक्ति और योग्यता के वैविध्य को लक्ष्य में रखकर श्रावकों की ग्यारह कक्षायें निश्चित की हैं, जिन्हें ग्यारह प्रतिमायें कहा जाता है।

जैनाचरण के व्यावहारिक पक्ष को सैद्धांतिक रूप में चरणानुयोग के शास्त्रों से एवम् प्रयोगात्मक रूप में जैन पुराणों के अनुशीलन से भली-भांति जाना जा सकता है।

समस्त जगत दो धाराओं में विभक्त है, एक भौतिक और दूसरी आध्यात्मिक। भौतिक धारा प्रवाह-पूर्ण स्वच्छन्दता की ओर अग्रसर है, जिसकी चरम परिणति से सारा विश्व त्रस्त है। आध्यात्मिक ज्योति भी अपनी क्षीणतम स्थिति में टिम-टिमा रही है।

दोनों की स्थिति क्या है, इसकी अपेक्षा दोनों की परिणति क्या है? इसका निर्णय अधिक महत्त्व रखता है। प्रश्न यह नहीं है कि कौन-सी धारा तेज है और कौन-सी मन्द? प्रश्न यह है कि दोनों की प्रकृति क्या है?

भौतिक धारा भोगमय धारा है। असीम और अनन्त भोग ही उसका लक्ष्य है। आध्यात्मिक धारा त्यागमय है, और सर्व 'पर' का त्याग एवं आत्मनिष्ठता ही उसका सर्वस्व है; अतः दोनों एकदम परस्पर विरुद्ध पथानुगामिनी हैं।

एक कहती है कि भोग और आनन्द में सीमा कैसी! सीमा की बाधा में रहते हुए तृप्ति कहाँ तथा तृप्ति बिना आनन्द कैसा! दूसरी कहती है कि भोग में आनन्द कैसा, आनन्द तो आत्मा की वस्तु है; अतः आनन्द प्राप्ति के मार्ग में भोग का कोई स्थान नहीं है।

तात्पर्य यह है कि भौतिक धारा को भोग में तनिक भी मर्यादा स्वीकार नहीं तथा आध्यात्मिक धारा को भोग की अणु मात्र भी उपस्थिति स्वीकार नहीं है। एक निर्बाध भोग चाहती है, दूसरी अणु मात्र भी भोग स्वीकार नहीं करती। एक का स्वामी उन्मुक्त भोगी और दूसरे का स्वामी पूर्ण विरागी योगी होता है।

परस्पर विरुद्ध-पथानुगामिनी उक्त दोनों धाराओं के अद्भुत् सम्मेलन का नाम ही श्रावक धर्म की स्थिति है। श्रावक भोगों का पूर्ण त्यागी न होकर भी उनकी मर्यादा अवश्य स्थापित करता है। श्रावक धर्म योग पक्ष और भोग पक्ष का अस्थायी समझौता-सा है, जिसकी धारा में पंचाणुव्रत और सप्तशील व्रत हैं।

भोग पक्ष कहता है – अपनी सुख (भोग) सामग्री की प्राप्ति के लिए कितनी भी हिंसा क्यों न करनी पड़े, करनी चाहिए। तब योग (अध्यात्म) पक्ष कहता है – हिंसा से प्राप्त होने वाला भोग हमें चाहिए

ही नहीं अथवा भोग स्वयं हिंसा है, अतः हमें उसकी आवश्यकता ही नहीं। सुख हमारे भीतर है, उसे बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं है।

तब एक समझौता होता है कि भाई यह सही है कि हमें भोगों की आवश्यकता नहीं, पर वर्तमान कमजोरी के कारण जो भौतिक अनिवार्य भोजनपानादि की आवश्यकता है, उन्हें पूर्ण करने हेतु कुछ सामग्री तो चाहिए ही। इसी प्रकार भोगों की अनन्त इच्छाएँ तो कभी पूर्ण हो नहीं सकतीं, किन्तु अमर्यादित भोगों को इकट्ठा करने के लिए हिंसा की अनुमति तो दी नहीं जा सकती। अतः गृहस्थ जीवन के लिए अनिवार्य आवश्यक आरम्भी, उद्योगी एवं विरोधी हिंसा और हिंसा-भाव को छोड़कर बाकी हिंसा और हिंसा-भाव का पूर्णतः त्याग करना चाहिए। इसी का नाम अहिंसाणुव्रत है।

हिंसा चार प्रकार की कही गई है :-

(१) संकल्पी हिंसा (२) उद्योगी हिंसा

(३) आरम्भी हिंसा (४) विरोधी हिंसा

केवल निर्दय परिणाम ही हेतु है जिसमें ऐसे संकल्प (इरादा) पूर्वक किया गया प्राणघात संकल्पी हिंसा है। व्यापार आदि कार्यों में तथा गृहस्थी के आरम्भादि कार्यों में सावधानी बरतते हुए भी जो हिंसा हो जाती है वह उद्योगी और आरम्भी हिंसा है। अपने तथा अपने परिवार, धर्मायतन समाज-देशादि पर किये गये आक्रमण से रक्षा के लिए अनिच्छापूर्वक की गई हिंसा विरोधी हिंसा है।

उक्त चार प्रकार की हिंसाओं में एक संकल्पी हिंसा का तो श्रावक सर्वथा त्यागी होता है, किन्तु बाकी तीन प्रकार की हिंसा उसके जीवन में विद्यमान रहती है।

यद्यपि वह उनसे भी बचने का पूरा-पूरा यत्न करता है, आरम्भ और उद्योग में भी पूरी-पूरी सावधानी रखता है; तथापि उसका आरम्भी, उद्योगी और विरोधी हिंसा से पूर्णरूपेण बच पाना संभव नहीं है। यद्यपि उक्त हिंसा उसके जीवन में विद्यमान रहती है, तथापि वह उसे उपादेय नहीं मानता, विधेय भी नहीं मानता।

इसी प्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के बारे में भी जानना चाहिए। गृहस्थी को न्यायपूर्वक चलाने के लिए यदि कोई अनिवार्य सूक्ष्म असत्य वचन का आश्रय लेना पड़े तो अलग बात है, अन्यथा स्थूल रूप से समस्त असत्य वचन बोलने और बोलने के भाव का त्याग होना ही सत्याणुव्रत है।

जिसका कोई स्वामी न हो ऐसी मिट्टी और जल को छोड़कर और कोई भी पदार्थ उसके लौकिक स्वामी की अनुमति बिना ग्रहण नहीं करना व ग्रहण करने का भाव नहीं होना अचौर्याणुव्रत है। धर्मानुकूल विवाहित स्वपत्नी अथवा स्वपति को छोड़कर अन्य में रति-भाव व विषय-सेवन का न होना ही ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

इसी प्रकार वर्तमान अति आवश्यक सामग्री को मर्यादापूर्वक रखकर और समस्त परिग्रह को रखने और रखने के भाव का त्याग कर देना ही परिग्रह-परिमाणव्रत है।

भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित उक्त पांच महान आदर्श यदि हम शक्ति और योग्यतानुसार अपने जीवन में उतार लें, उन्हें व्यावहारिक रूप में अपनालें, तो निश्चित रूप से आत्म-शान्ति के साथ-साथ विश्व शान्ति की दिशा में अग्रसर होंगे।

उक्त महान आदर्शों—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पर यह आक्षेप किया जाता है कि वे इतने सूक्ष्म एवं कठोर हैं कि उनका प्रयोग व्यावहारिक जीवन में सम्भव नहीं है।

यद्यपि यह सत्य है कि भगवान महावीर ने हिंसादि पापों के रंचमात्र भी सद्भाव को श्रेयस्कर नहीं माना है तथापि उनको जीवन में उतारने के लिए अनेक स्तरों का प्रतिपादन किया है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को उन्हें जीवन में अपनाना संभव ही नहीं, वरन् प्रयोगसिद्ध है।

जहाँ साधु का जीवन पूर्ण अहिंसक एवं अपरिग्रही होता है, वहीं श्रावकों के जीवन में योग्यतानुसार सीमित परिग्रह का ग्रहण होता है तथा जहाँ गृहस्थ बिना प्रयोजन चींटी तक का बध नहीं करता है; वहाँ देश, समाज, घर-बार, माँ-बहिन, धर्म और धर्मायतन की रक्षा के लिए तलवार उठाने में भी संकोच नहीं करता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान महावीर के भूमिकानुसार आचरण एवं अनेकान्तात्मक दृष्टिकोण को समझे बिना ही उक्त आक्षेप किया जाता है।

भगवान महावीर ने सदा ही अनेकान्तात्मक विचार, स्याद्वादमयी वाणी और अहिंसात्मक आचरण पर जोर दिया। जैन आचरण छूआ-छूतमूलक न होकर जिसमें हिंसा न हो या कम से कम हिंसा हो, के आधार पर निश्चित किया गया है। पानी छानकर काम में लेना, रात्रि में भोजन नहीं करना, मद्य-मांसादि का सेवन नहीं करना आदि समस्त आचरण अहिंसा को लक्ष्य में रखकर अपनाये गए हैं।

भगवान महावीर ने अहिंसा को परमधर्म घोषित किया है। सामाजिक जीवन में विषमता रहते अहिंसा पनप नहीं सकती। अतः अहिंसा के सामाजिक प्रयोग के लिए जीवन में समन्वयवृत्ति, सह-अस्तित्व की भावना एवं सहिष्णुता अति आवश्यक हैं। इसीलिए उन्होंने हिंसा को कम करने के लिए सह-अस्तित्व, सहिष्णुता और समताभाव पर जोर दिया।

सहिष्णुता और समताभाव तब तक प्राप्त नहीं किया जा सकता जब तक कि आग्रह समाप्त नहीं हो जाता; क्योंकि आग्रह विग्रह को जन्म देता है, प्राणी को असहिष्णु बना देता है। धार्मिक असहिष्णुता से भी विश्व में बहुत कलह और रक्तपात हुआ है, इतिहास इसका साक्षी है। जब-जब धार्मिक आग्रह सहिष्णुता की सीमा को लांघ जाता है, तब-तब वह अपने प्रचार व प्रसार के लिए हिंसा का आश्रय लेने लगता है।

धर्म का यह दुर्भाग्य ही कहा जायगा कि उसके नाम पर रक्तपात हुए और वह भी उक्त रक्तपात के कारण विश्व में घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा।

इस प्रकार जिस धर्मतत्त्व के प्रचार के लिए हिंसा अपनाई गई, वही हिंसा उसके ह्रास का कारण बनी। किसी का मन तलवार की धार से नहीं पलटा जा सकता; अज्ञान ज्ञान से कटता है, उसे हमने

तलवार से काटने का यत्न किया। विश्व में नास्तिकता के प्रचार में इसका बहुत बड़ा हाथ है।

भगवान महावीर ने उक्त तथ्य को भली प्रकार समझा था, अतः उन्होंने साध्य की पवित्रता के साथ-साथ साधन की पवित्रता पर पूरा-पूरा जोर दिया।

सहिष्णुता के बिना सह-अस्तित्व सम्भव नहीं है, क्योंकि संसार में अनन्त प्राणी हैं और उन्हें इस लोक में साथ-साथ ही रहना है। यदि हम सब ने एक-दूसरे के अस्तित्व को चुनौती दिये बिना रहना नहीं सीखा तो हमें निरन्तर अस्तित्व के संघर्ष में जुटे रहना होगा।

संघर्ष अशांति का कारण है और उसमें हिंसा अनिवार्य है। हिंसा प्रतिहिंसा को जन्म देती है। इस प्रकार हिंसा-प्रतिहिंसा का कभी समाप्त न होने वाला चक्र चलता रहता है। यदि हम शान्ति से रहना चाहते हैं तो हमें दूसरों के अस्तित्व के प्रति सहनशील बनना होगा।

आज हमने मानव-मानव के बीच अनेक दीवारें खड़ी कर ली हैं। ये दीवारें प्राकृतिक न होकर हमारे द्वारा ही खड़ी की गई हैं। ये दीवारें रंगभेद, वर्णभेद, जातिभेद, कुलभेद, देश व प्रान्तीय भेद आदि की हैं।

यही कारण है कि आज सारे विश्व में एक तनाव का वातावरण है। एक देश दूसरे देश से शंकित है और एक प्रान्त दूसरे प्रान्त से। यहाँ तक कि मानव-मानव की ही नहीं, एक प्राणी दूसरे प्राणी की इच्छा और आकांक्षाओं को अविश्वास की दृष्टि से देखता है। भले ही वे परस्पर एक दूसरे से पूर्णतः असंपृक्त ही क्यों न हों, पर एक दूसरे के लक्ष्य से एक विशेष प्रकार का तनाव लेकर जी रहे हैं। तनाव से सारे विश्व का वातावरण एक घुटन का वातावरण बन रहा है।

वास्तविक धर्म वह है जो इस तनाव व घुटन को समाप्त करे या कम करे। तनावों से वातावरण विषाक्त बनता है और विषाक्त वातावरण मानसिक शांति भंग कर देता है।

इस सम्बन्ध में लोकसभा के भूतपूर्व अध्यक्ष माननीय अनंतशयनम् अय्यंगार लिखते हैं :-

जैनधर्म के तीर्थंकर ऋषभदेव व भगवान महावीर के उपदेशों को हमें पढ़ना चाहिए। आज उन्हें अपने जीवन में उतारने का सबसे ठीक समय आ पहुँचा है; क्योंकि जैनधर्म का तत्त्वज्ञान अनेकान्त पर आधारित है, और जैनधर्म का आचार अहिंसा पर प्रतिष्ठापित है। जैनधर्म कोई पारम्परिक विचारों, ऐहिक व पारलौकिक मान्यताओं पर अन्ध श्रद्धा रखकर चलने वाला सम्प्रदाय नहीं है, वह मूलतः एक विशुद्ध वैज्ञानिक धर्म है[1]।"

प्रत्येक सिद्धान्त तभी मान्य होता है जब वह प्रयोगों में खरा उतरे। धर्म परिभाषा नहीं, प्रयोग है; और जीवन है धर्म की प्रयोगशाला। तीर्थंकर भगवान महावीर ने धर्म की परिभाषाएँ नहीं रटी थीं; उसका सही रूप समझकर, अनुभवकर, प्रयोग किया था।

शास्वत सुख अर्थात् मुक्ति के जिस मार्ग पर वे स्वयं चले, वही उन्होंने सारे जगत को भी बताया; मात्र वाणी से नहीं, जीवन से। उनके अनुसार सच्चा सुख और शान्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय स्याद्वाद शैली में अभिव्यक्त अनेकान्तात्मक वस्तु-स्वरूप – नव पदार्थ, देव-शास्त्र-गुरु का सच्चा स्वरूप समझकर, भेद-विज्ञान के बल से समस्त पर-पदार्थों से भिन्न निजात्मा को जानकर, श्रद्धानकर, अनुभव करना और उसी में जम जाना, रम जाना, समा जाना, लीन हो जाना, तन्मय हो जाना है।

वे स्वयं इसी मार्ग पर चलकर अनन्तसुखी वीतरागी-सर्वज्ञ महावीर बने और जगत् को भी यही सन्मार्ग बता गये हैं।

उनका उपदेश भक्त नहीं, भगवान बनने के लिए है।

[1] तीर्थंकर वर्द्धमान, पृष्ठ ९४–९५

परिशिष्ट १

अहिंसा

'अहिंसा परमो धर्मः' – अहिंसा को परम धर्म घोषित करने वाली यह सूक्ति आज भी बहु प्रचलित है। यह तो एक स्वीकृत तथ्य है कि अहिंसा परम धर्म है, पर प्रश्न यह है कि अहिंसा क्या है? साधारण भाषा में अहिंसा शब्द का अर्थ होता है – हिंसा न करना। किन्तु जब भी हिंसा-अहिंसा की चर्चा चलती है, तो हमारा ध्यान प्रायः दूसरे जीवों को मारना, सताना या उनकी रक्षा करना आदि की ओर ही जाता है। हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध प्रायः दूसरों से ही जोड़ा जाता है। दूसरों की हिंसा मत करो, बस यही अहिंसा है, ऐसा ही सर्वाधिक विश्वास है; किन्तु यह एकांगी दृष्टिकोण है।

अपनी भी हिंसा होती है, इस ओर बहुत कम लोगों का ध्यान जाता है। जिनका जाता भी है तो वे भी आत्महिंसा का अर्थ केवल विष-भक्षणादि द्वारा आत्मघात (आत्महत्या) ही मानते हैं, उसकी गहराई तक पहुँचने का प्रयत्न नहीं किया जाता है। अन्तर में राग-द्वेष-मोह की उत्पत्ति होना भी हिंसा है, यह बहुत कम लोग जानते हैं।

प्रसिद्ध जैनाचार्य अमृतचन्द्र ने अंतरंग पक्ष को लक्ष्य में रखते हुए पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक ग्रन्थ में हिंसा-अहिंसा की निम्नलिखित परिभाषा दी है :–

> अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
> तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥

आत्मा में राग-द्वेष-मोहादि भावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है और इन भावों का आत्मा में उत्पन्न नहीं होना ही अहिंसा है। वही जिनागम का सार है।

यहाँ स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि क्या फिर जीवों का मरना, मारना हिंसा नहीं है और उनकी रक्षा करना अहिंसा नहीं? इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व हमें जीवन और मरण के स्वरूप पर विचार करना होगा।

'मरणं प्रकृतिर्शरीरिणां' – इस सूक्ति के अनुसार यह एक स्थापित सत्य है कि जो जन्म लेता है वह एक न एक दिन मरता अवश्य है, शरीरधारी अमर नहीं है। समय आने पर या तो वह दूसरे प्राणी द्वारा मार डाला जाता है या स्वयं मर जाता है।

यदि मृत्यु को हिंसा मानें तो कभी भी हिंसा की समाप्ति नहीं होगी तथा जीवन का नाम अहिंसा मानना होगा। लोक में भी यथासमय बिना बाह्य कारण के होने वाली मृत्यु को हिंसा नहीं कहा जाता है और न सहज जीवन को अहिंसा ही। इसी प्रकार बाढ़, भूकम्प आदि प्राकृतिक कारणों से भी हजारों प्राणी मर जाते हैं किंतु उसे भी हिंसा के अन्तर्गत नहीं लिया जाता है, अतः मरना हिंसा और जीवन अहिंसा तो नहीं हुआ।

जहाँ तक मारने और बचाने की बात है, उसके सम्बन्ध में समयसार में समागत आचार्य कुन्दकुन्द के निम्नलिखित कथनों की ओर ध्यान देना होगा :–

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२४७॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कयं तेसिं ॥२४८॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरंति तुहं कह ते मरणं कयं तेहिं ॥२४९॥
जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५०॥
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीवियं कयं तेसिं ॥२५१॥
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीवियं कयं तेहिं ॥२५२॥

जो यह मानता है कि मैं पर-जीवों को मारता हूँ और पर-जीव मुझे मारते हैं – वह मूढ है, अज्ञानी है, और इससे विपरीत मानने वाला ज्ञानी है।

जीवों का मरण आयुकर्म के क्षय से होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। तुम पर-जीवों के आयुकर्म को तो हरते नहीं हो फिर तुमने उनका मरण कैसे किया ?

जीवों का मरण आयुकर्म के क्षय से होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। पर-जीव तेरे आयुकर्म को तो हरते नहीं हैं तो उन्होंने तेरा मरण कैसे किया ?

जो जीव यह मानता है कि मैं पर-जीवों को जिलाता (रक्षा करता) हूं और पर-जीव मुझे जिलाते (रक्षा करते) हैं; वह मूढ है, अज्ञानी है, और इससे विपरीत मानने वाला ज्ञानी है।

जीव आयुकर्म के उदय से जीता है, ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है। तुम पर-जीवों को आयुकर्म तो नहीं देते तो तुमने उनका जीवन (रक्षा) कैसे किया ?

जीव आयुकर्म के उदय से जीता है, ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं। पर-जीव तुझे आयुकर्म तो देते नहीं हैं तो उन्होंने तेरा जीवन (रक्षा) कैसे किया ?

उक्त कथन का निष्कर्ष देते हुए वे अन्त में लिखते हैं :–

जो मरइ जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो।
तम्हा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५७॥

जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि य कम्मोदयेण चेव खलु।
तम्हा ण मारिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५८॥

जो मरता है और जो दुःखी होता है वह सब कर्मोदय से होता है, अतः 'मैंने मारा, मैंने दुःखी किया' ऐसा तेरा अभिप्राय क्या वास्तव में मिथ्या नहीं है ? अवश्य ही मिथ्या है। और जो न मरता है और न दुःखी होता है वह भी वास्तव में कर्मोदय से ही होता है। अतः 'मैंने नहीं मारा, मैंने दुःखी नहीं किया' ऐसा तेरा अभिप्राय क्या वास्तव में मिथ्या नहीं है ? अवश्य ही मिथ्या है।

उक्त सम्पूर्ण कथन को आचार्य अमृतचन्द्र नें दो छन्दों में निम्नानुसार अभिव्यक्त किया है :–

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।।
अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य पश्यंति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवंति[1] ।।

इस जगत में जीवों के जीवन-मरण, सुख-दु.ख, यह सब सदैव नियम से अपने द्वारा उपार्जित कर्मोदय से होता है। 'दूसरा पुरुष इसके जीवन-मरण, सुख-दुःख का कर्त्ता है' यह मानना तो अज्ञान है।

जो पुरुष पर के जीवन-मरण, सुख-दुःख का कर्त्ता दूसरे को मानते हैं, अहंकार रस से कर्मोदय को करने के इच्छुक वे पुरुष नियम से मिथ्यादृष्टि हैं और अपने आत्मा का घात करने वाले हैं।

उक्त कथनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैनाचार्यों को यह कदापि स्वीकार्य नहीं है कि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को मार या बचा सकता है, अथवा दुःखी या सुखी कर सकता है। जब कोई किसी को मार ही नहीं सकता और मरते को बचा भी नहीं सकता है तो फिर 'मारने का नाम हिंसा और बचाने का नाम अहिंसा' यह कहना क्या अर्थ रखता है?

द्रव्य-स्वभाव से आत्मा की अमरता एवं पर्याय के परिवर्तन में स्वयं के उपादान एवं कर्मोदय को निमित्त स्वीकार कर लेने के बाद एक प्राणी द्वारा दूसरे प्राणी का वध और रक्षा करने की बात में कितनी सच्चाई रह जाती है, यह एक सोचने की बात है। अतः यह कहा जा सकता है कि न मरने का नाम हिंसा है न मारने का, इसी प्रकार न जीने का नाम अहिंसा है न जिलाने का।

हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध सीधा आत्मपरिणामों से है। वे दोनों आत्मा के ही विकारी-अविकारी परिणाम हैं। जड़ में उनका जन्म नहीं होता। यदि कोई पत्थर किसी प्राणी पर गिर जाय और उससे उसका मरण हो जाय तो पत्थर को हिंसा नहीं होती; किन्तु कोई प्राणी किसी को मारने का विकल्प करे तो उसे हिंसा अवश्य होगी,

---

[1] समयसार कलश, १६८-१६९

चाहे वह प्राणी मरे या न मरे। हिंसा-अहिंसा जड़ में नहीं होती, जड़ के कारण भी नहीं होती। उनका उत्पत्ति स्थान व कारण दोनों ही चेतन में विद्यमान हैं। चिद्विकार होने से झूठ, चोरी, कुशील, और परिग्रह-संग्रह के भाव भी हिंसा के ही रूपान्तर हैं। आचार्य अमृतचंद्र के शब्दों में :–

आत्मपरिणाम हिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।
अमृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय[1] ।।

आत्मा के शुद्ध परिणामों के घात होने से झूठ, चोरी, आदि सभी हिंसा ही हैं; भेद करके तो मात्र शिष्यों को समझाने के लिए कहे हैं।

वस्तुतः हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध पर-जीवों के जीवन-मरण, सुख-दुःख से न होकर आत्मा में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष-मोह परिणामों से है; पर के कारण आत्मा में हिंसा उत्पन्न नहीं होती। कहा भी है :–

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः ।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या[2] ।।

यद्यपि पर-वस्तु के कारण रंच मात्र भी हिंसा नहीं होती है, तथापि परिणामों की शुद्धि के लिए हिंसा के स्थान परिग्रहादि को छोड़ देना चाहिये। क्योंकि जीव चाहे मरे या न मरे – अयत्नाचार (अनर्गल) प्रवृत्ति वालों को तो बंध होता ही है। सो ही कहा है :–

मरदु व जियदु जीवो अयदाचारस्य णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स[3] ।।

हिंसा के दो भेद करके समझाया गया है। भावहिंसा और द्रव्य-हिंसा। रागादि भावों के उत्पन्न होने पर आत्मा के उपयोग की शुद्धता (शुद्धोपयोग) का घात होना भावहिंसा है और रागादि भाव हैं निमित्त जिसमें, ऐसे अपने और पराये द्रव्य-प्राणों का घात होना द्रव्यहिंसा है।

---

[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ४२

[2] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ४९

[3] प्रवचनसार, गाथा २१७

व्यवहार में जिसे हिंसा कहते हैं – जैसे किसी को सताना, दुःख देना आदि वह हिंसा न हो, यह बात नहीं है। वह तो हिंसा है ही, क्योंकि उसमें प्रमाद का योग रहता है। आचार्य उमास्वामी ने 'प्रमत्त योगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' कहा है। प्रमाद के योग से प्राणियों के द्रव्य और भावप्राणों का घात होना हिंसा है। उनका प्रमाद से आशय मोह-राग-द्वेष आदि विकारों से ही है। अतः उक्त कथन में द्रव्य-भाव में दोनों प्रकार की हिंसा समाहित हो जाती है। परन्तु हमारा लक्ष्य प्रायः बाह्य हिंसा पर केन्द्रित रहता है, अंतरंग में होने वाली भावहिंसा की ओर नहीं जा पाता है, अतः यहाँ पर विशेषकर अंतरंग में होने वाली रागादि भावरूप भावहिंसा की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि तीव्र राग तो हिंसा है, पर मंद राग को हिंसा क्यों कहते हो ? किन्तु जब राग हिंसा है तो मंद राग अहिंसा कैसे हो जायगा, वह भी तो राग की ही एक दशा है। यह बात अवश्य है कि मंद राग मंद हिंसा है और तीव्र राग तीव्र हिंसा है। अतः यदि हम हिंसा का पूर्ण त्याग नहीं कर सकते हैं तो उसे मंद तो करना ही चाहिये। राग जितना घटे उतना ही अच्छा है, पर उसके सद्भाव को धर्म नहीं कहा जा सकता है। धर्म तो राग-द्वेष-मोह का अभाव ही है और वही अहिंसा है, जिसे परम धर्म कहा जाता है।

एक यह प्रश्न भी सम्भव है कि ऐसी अहिंसा पूर्णतः तो साधु के भी सम्भव नहीं है। अतः सामान्य जनों (श्रावकों) को तो दयारूप (दूसरों को बचाने का भाव) अहिंसा ही सच्ची है। आचार्य अमृतचंद्र ने श्रावक के आचरण के प्रकरण में ही इस बात को लेकर यह सिद्ध कर दिया है कि अहिंसा दो प्रकार की नहीं होती। अहिंसा को जीवन में उतारने के स्तर कई हो सकते हैं। हिंसा तो हिंसा ही रहेगी।

यदि कोई पूर्ण हिंसा का त्यागी नहीं हो सकता तो अल्प हिंसा का त्याग करे, पर जो हिंसा वह छोड़ न सके, उसे अहिंसा तो नहीं माना जा सकता है। यदि हम पूर्णतः हिंसा का त्याग नहीं कर सकते तो अंशतः त्याग करना चाहिये। यदि वह भी न कर सकें तो कम से

कम हिंसा में धर्म मानना और कहना तो छोड़ना ही चाहिए। शुभ राग, राग होने से हिंसा में आता है और उसे धर्म नहीं माना जा सकता।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न हो सकता है कि जब मारने का भाव हिंसा है तो बचाने के भाव का नाम अहिंसा होगा ? और शास्त्रों में उसे मारने के भाव की अपेक्षा मंद कषाय एवं शुभ भावरूप होने से व्यवहार से अहिंसा कहा भी है; परंतु निश्चय से ऐसा नहीं है तथा यही बात तो जैनदर्शन में सूक्ष्मता से समझने की है। जैन दर्शन का कहना है कि मारने का भाव तो हिंसा है ही, किन्तु बचाने का भाव भी निश्चय से हिंसा ही है; क्योंकि वह भी रागभाव ही है, और राग चाहे वह किसी भी प्रकार का क्यों न हो, हिंसा ही है। पूर्व में हिंसा की परिभाषा में राग की उत्पत्ति मात्र को हिंसा बताया जा चुका है।

यद्यपि बचाने का राग मारने के राग की अपेक्षा प्रशस्त है तथापि है तो राग ही। राग तो आग है। आग चाहे नीम की हो या चन्दन की– जलायेगी ही। उसी प्रकार सर्व प्रकार का राग हिंसारूप ही होता है। अहिंसा तो वीतराग परिणति का नाम है, शुभाशुभ राग का नाम नहीं।

यद्यपि मारने के भाव से पाप का बंध होता है और बचाने के भाव से पुण्य का, तथापि होता तो बंध ही है; बंध का अभाव नहीं। धर्म तो बंध का अभाव करने वाला है, अतः बंध के कारण को धर्म कैसे कहा जा सकता है ? अतः वीतराग भाव ही अहिंसा है, वस्तु का स्वभाव होने से वही धर्म है, और मुक्ति का कारण भी वही है।

बचाने के भाव को हिंसा कहने में एक और रहस्य अन्तर्गर्भित है। वह यह है कि जब कोई अज्ञानी जीव किसी अन्य जीव को वस्तुतः मार तो सकता नहीं, किन्तु मारने की बुद्धि करता है तब उसकी वह बुद्धि तथ्य के विपरीत होने से मिथ्या है; उसी प्रकार जब कोई जीव किसी को बचा तो नहीं सकता किन्तु बचाने की बुद्धि करता है, तब उसकी यह बचाने की बुद्धि भी उससे कम मिथ्या नहीं है। मिथ्या होने में दोनों में समानता है। मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है, जो दोनों में समान रूप से विद्यमान है। तो भी बचाने का भाव पुण्य का कारण है और मारने का भाव पाप का कारण है। ये दोनों प्रकार के भाव

भूमिकानुसार ज्ञानियों में भी पाए जाते हैं; यद्यपि उनकी श्रद्धा में वे हेय ही हैं तथापि चारित्र की कमजोरी के कारण आए बिना भी नहीं रहते।

उक्त तथ्य को आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी ने २१० वर्ष पूर्व निम्नानुसार व्यक्त किया है :-

"तहाँ अन्य जीवनि कौं जीवावने का वा सुखी करने का अध्यवसाय होय सो तौ पुण्य-बंध का कारण है, अर मारने का वा दुःखी करने का अध्यवसाय होय सो पाप बंध का कारण है।....हिंसा विषैं मारने की बुद्धि होय सो वाका आयु पूरा हुवा बिना मरै नाहीं, अपनी द्वेष परिणति करि आप ही पाप बांधै है। अहिंसा (व्यवहार अहिंसा) विषैं रक्षा करने की बुद्धि होय सो वाका आयु अवशेष बिना जीवै नाहीं, अपनी प्रशस्त राग परिणति करि आप ही पुण्य बांधै है। ऐसैं ए दोऊ हेय हैं। जहाँ वीतराग होय दृष्टा-ज्ञाता प्रवर्ते, तहाँ (वास्तविक अहिंसा होने से) निर्बन्ध है। सो उपादेय है। सो ऐसी दशा न होइ, तावत् प्रशस्त रागरूप प्रवर्तो, परन्तु श्रद्धान तौ ऐसा राखौ – यहु भी बंध का कारण है, हेय है। श्रद्धान विषैं याकौं मोक्षमार्ग जानें मिथ्यादृष्टि ही हो है[1]।"

जैनदर्शन के अनेकान्तिक दृष्टिकोण में उपर्युक्त अहिंसा के सम्बन्ध में यह आरोप भी नहीं लगाया जा सकता है कि यदि उक्त अहिंसा को ही व्यवहारिक जीवन में उपादेय मान लेंगे तो फिर देश, समाज, घरबार, यहाँ तक कि अपनी माँ-बहिन की इज्जत बचाना भी सम्भव न होगा। क्योंकि प्रथम तो 'कोई व्यक्ति किसी का जीवन-मरण, सुख-दुख कर ही नहीं सकता', इस सत्य की स्वीकृति के उपरान्त यह प्रश्न उठना ही नहीं चाहिए; दूसरे भूमिकानुसार ज्ञानी जीवों के भी रक्षा आदि के भाव हेयबुद्धिपूर्वक आए बिना नहीं रहते।

ज्ञानी गृहस्थों के जीवन में अहिंसा और हिंसा का क्या रूप विद्यमान रहता है, इसका विस्तृत वर्णन जैनाचार ग्रंथों में मिलता है, तथा उसके प्रायोगिक रूप के दर्शन जैन पुराणों के परिशीलन से किए जा सकते हैं। यहाँ उसकी विस्तृत समीक्षा के लिए अवकाश नहीं है।

---

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, सस्ती ग्रंथमाला, दिल्ली २३२–३३

गृहस्थ जीवन में विद्यमान हिंसा और अहिंसा को स्पष्ट करते हुए जैनाचार्यों ने हिंसा का वर्गीकरण चार रूपों में किया है :-

१. संकल्पी हिंसा	२. उद्योगी हिंसा
३. आरंभी हिंसा	४. विरोधी हिंसा

केवल निर्दय परिणाम ही हेतु हैं जिसमें ऐसे संकल्प (इरादा) पूर्वक किया गया प्राणघात संकल्पी हिंसा है। व्यापारादि कार्यों में तथा गृहस्थी के आरंभादि कार्यों में सावधानी वर्तते हुए भी जो हिंसा हो जाती है वह उद्योगी और आरंभी हिंसा है। अपने तथा अपने परिवार, धर्मायतन, समाज, देशादि पर किये गए आक्रमण से रक्षा के लिए अनिच्छापूर्वक की गई हिंसा विरोधी हिंसा है। उक्त चार प्रकार की हिंसाओं में एक संकल्पी हिंसा का तो श्रावक सर्वथा त्यागी होता है, किन्तु बाकी तीन प्रकार की हिंसा उसके जीवन में विद्यमान रहती है। यद्यपि वह उनसे भी बचने का पूरा-पूरा यत्न करता है, आरम्भ और उद्योग में भी पूरी पूरी सावधानी रखता है; तथापि उसका आरम्भी, उद्योगी और विरोधी हिंसा से पूर्णरूपेण बच पाना सम्भव नहीं है।

यद्यपि उक्त हिंसा उसके जीवन में विद्यमान रहती है, तथापि वह उसे उपादेय नहीं मानता, विधेय भी नहीं मानता। मुक्ति के मार्ग के पथिक का व्यक्तित्व द्वैध व्यक्तित्व होता है। उसकी श्रद्धा तो पूर्ण अहिंसक होती है और जीवन भूमिकानुसार।

कोई व्यक्ति अपने जीवन में अहिंसा को कितना उतार पाता है, कितना नहीं, यह एक अलग प्रश्न है; और हिंसा और अहिंसा का वास्तविक स्वरूप क्या है, यह एक स्वतन्त्र विचारणीय वस्तु है। इस तथ्य को विचारकों को नहीं भूलना चाहिये।

निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि राग-द्वेष-मोह भावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है और उन्हें धर्म मानना महा हिंसा है तथा रागादि भावों की उत्पत्ति नहीं होना ही परम अहिंसा है और रागादि भावों को धर्म नहीं मानना ही अहिंसा के सम्बन्ध में सच्ची समझ है। यही जिनागम का सार है।

परिशिष्ट २

संदर्भ ग्रंथ-सूची

१. अष्टपाहुड़ : आचार्य कुन्दकुन्द; श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, ६२, धनजी स्ट्रीट, बम्बई–३

२. अध्यात्म पदावली : संपादक – डॉ० राजकुमार जैन; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, ४५/४७ कनॉट प्लेस, दिल्ली

३. अनेकान्त और स्याद्वाद : उदयचंद्र शास्त्री; श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रंथमाला, १/१२८, डुमरावबाग-बसति, अस्सी, वाराणसी–५

४. अपने को पहिचानिए : डॉ० हुकमचंद भारिल्ल; पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर–४

५. आचार्य शिवसागर स्मृति ग्रंथ : संपादक–पं० पन्नालाल जैन; सौ० भंवरीदेवी पाण्ड्या, सुजानगढ़ (राज०)

६. आजकल, मार्च १९६२ :

७. आप्तमीमांसा (देवागम स्तोत्र) : आचार्य समन्तभद्र; अनन्तकीर्ति ग्रंथमाला, बम्बई

८. आलाप पद्धति (नयचक्र के परिशिष्ट के रूप में मुद्रित) : देवसेन; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, ४५/४७ कनॉट प्लेस, दिल्ली

९. इंडियन फिलासफी (भाग १) : डॉ० राधाकृष्णन

१०. उत्तरपुराण : आचार्य गुणभद्र

११. कसायपाहुड़ : गुणधराचार्य; भा० दि० जैन संघ, चौरासी, मथुरा

१२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा : स्वामी कार्तिकेय; श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास

१३. गोम्मटसार जीवकाण्ड : सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचंद्राचार्य; श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास (गुजरात)

१४. गोम्मटसार कर्मकाण्ड : सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचंद्राचार्य; श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास

१५. छहढाला : पंडित दौलतराम

१६. जैन दर्शन : डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य; श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रंथमाला, १/१२८, डुमरावबाग-बसति, अस्सी, वाराणसी–५

१७. जैन धर्म : पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री; भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा

१८. जैन धर्म का मौलिक इतिहास (तीर्थंकर खंड): आचार्य हस्तीमल; जैन इतिहास समिति, लाल भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर–३
१९. जैन न्याय: पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली
२०. जैन सिद्धान्त प्रवेशिका: पं० गोपालदासजी बरैया; शा० जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, शान्ति वीरनगर, श्रीमहावीरजी
२१. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग – १, २, ३, ४: श्री जिनेन्द्र वर्णी; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली
२२. तत्त्वार्थसूत्र: आचार्य उमास्वामी
२३ तिलोयपण्णत्ति: यति वृषभाचार्य; जीवराज ग्रंथमाला, शोलापुर
२४. तीर्थंकर वर्द्धमान: मुनि विद्यानन्द; वीर निर्वाण प्रकाशन समिति, इन्दौर
२५. दशलक्षण पूजन: कविवर द्यानतराय
२६. द्रव्य संग्रह: आचार्य नेमीचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती
२७. द्वादशानुप्रेक्षा: आचार्य कुन्दकुन्द
२८. धवला (षट् खण्डागम): आचार्य वीरसेन; जैन साहित्योद्धारक फण्ड, अमरावती
२९. नयचक्र: माइल्ल धवल; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली
३०. नयचक्र: देवसेन; कल्याण पावर प्रिंटिंग प्रेस, सोलापुर
३१. न्याय दीपिका: अभिनव धर्मभूषण यति; वीर सेवा मंदिर, दिल्ली
३२. नाटक समयसार: कविवर बनारसीदास
३३. परीक्षामुख: आचार्य माणिक्यनन्दी
३४. पंचाध्यायी: पं० राजमल; श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी
३५. पंचास्तिकाय संग्रह: आचार्य कुन्दकुन्द
३६. प्रवचनसार: आचार्य कुन्दकुन्द
३७. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय: आचार्य अमृतचन्द्र
३८. बृहत् नयचक्र: देवसेनाचार्य; माणिकचंद ग्रंथमाला, बम्बई
३९. भक्ति-पाठ संग्रह: पाटनी दि० जैन ग्रंथमाला, मारोठ (राजस्थान)
४०. भगवती आराधना: आचार्य शिवकोटि; रावजी सखाराम दोशी, सोलापुर
४१. महापुराण: आचार्य जिनसेन; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली
४२. महावीर जयन्ती स्मारिका, १९६४ व १९६८: राजस्थान जैन सभा, घी वालों का रास्ता, जयपुर-३

४३. मालती माधव : महाकवि भवभूति
४४. मूलाचार : अनन्तकीर्ति ग्रंथमाला, बम्बई
४५. मोक्षमार्ग प्रकाशक : पं० टोडरमल; श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
४६. मोक्षमार्ग प्रकाशक : पं० टोडरमल; सस्ती ग्रंथमाला, दिल्ली
४७. युक्त्यनुशासन : आ० समन्तभद्र; वीर सेवा मंदिर, दरियागंज, देहली
४८. योगसार : आचार्य अमितगति; जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता
४९. योगसार : आचार्य योगीन्दुदेव; श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास
५०. रत्नकरण्ड श्रावकाचार : आचार्य समन्तभद्र
५१. रयणसार : आचार्य कुन्दकुन्द
५२. राजवार्तिक : आचार्य अकलंकदेव; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली
५३. रामचरितमानस : महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजी
५४. लघीयस्त्रय टीका : आचार्य अकलंकदेव
५५. वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका : डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल; पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर-४
५६. श्लोकवार्तिक : आचार्य विद्यानन्दि; आ० कुंथुसागर ग्रंथमाला, शोलापुर
५७. श्रीमद् भागवत :
५८. समयसार : आचार्य कुन्दकुन्द
५९. समयसार कलश : आचार्य अमृतचन्द्र
६०. सम्यग्दर्शन : श्री कानजी स्वामी; श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
६१. स्वयंभूस्तोत्र : आचार्य समन्तभद्र; वीरसेवा मंदिर, सरसावा
६२. संस्कृति के चार अध्याय : रामधारीसिंह 'दिनकर'
६३. स्याद्वादमंजरी : हेमचन्द्राचार्य; श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास
६४. समाधिशतक : आचार्य पूज्यपाद; अ० विश्व जैन मिशन, अलीगंज (यू.पी.)
६५. सर्वार्थसिद्धि : आचार्य पूज्यपाद; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली
६६. साकेत : मैथिलीशरण गुप्त
६७. हरिवंश पुराण : आचार्य जिनसेन
६८. ह्यूएनसांग का भारत भ्रमण :

परिशिष्ट ३

श्री महावीर पूजन

स्थापना

जो मोह माया मान मत्सर, मदन मर्दन वीर हैं।
जो विपुल विघ्नों बीच में भी, ध्यान धारण धीर हैं।।
जो तरण-तारण भव-निवारण, भव-जलधि के तीर हैं।
वे वंदनीय जिनेश, तीर्थंकर स्वयं महावीर हैं।।

ॐ ह्रीं श्री महावीरजिन ! अत्र अवतर अवतर संवौषट्। अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः। अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट्।

जल

जिनके गुणों का स्तवन पावन करन अम्लान है।
मल हरन निर्मल करन भागीरथी नीर समान है।।
संतप्त-मानस शान्त हों जिनके गुणों के गान में।
वे वर्द्धमान महान जिन विचरें हमारे ध्यान में।।

ॐ ह्रीं श्री महावीरजिनेन्द्राय जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलम् निर्वपामीति स्वाहा।

चंदन

लिपटे रहें विषधर तदपि चंदन विटप निर्विष रहें।
त्यों शान्त शीतल ही रहो रिपु विघन कितने ही करें।।
संतप्त-मानस शान्त हों जिनके गुणों के गान में।
वे वर्द्धमान महान जिन विचरें हमारे ध्यान में।।

ॐ ह्रीं श्री महावीरजिनेन्द्राय संसारतापविनाशनाय चंदनम् निर्वपामीति स्वाहा।

अक्षत

सुख-ज्ञान-दर्शन-वीर जिन अक्षत समान अखंड हैं।
हैं शान्त यद्यपि तदपि जो दिनकर समान प्रचंड हैं।।
संतप्त-मानस शान्त हों जिनके गुणों के गान में।
वे वर्द्धमान महान जिन विचरें हमारे ध्यान में।।

ॐ ह्रीं श्री महावीरजिनेन्द्राय अक्षयपदप्राप्तये अक्षतम् निर्वपामीति स्वाहा।

पुष्प

त्रिभुवनजयी अविजित कुसुमसर सुभट मारन सूर हैं।
परगंध से विरहित तदपि निजगंध से भरपूर हैं।।
संतप्त-मानस शान्त हों जिनके गुणों के गान में।
वे वर्द्धमान महान जिन विचरें हमारे ध्यान में।।

ॐ ह्रीं श्री महावीरजिनेन्द्राय कामबाणविध्वंसनाय पुष्पम् निर्वपामीति स्वाहा।

नैवेद्य

यदि भूख हो तो विविध व्यंजन मिष्ट इष्ट प्रतीत हों।
तुम क्षुधा-बाधा रहित जिन क्यों तुम्हें उनसे प्रीति हो ?
संतप्त-मानस शान्त हों जिनके गुणों के गान में।
वे वर्द्धमान महान जिन विचरें हमारे ध्यान में।।

ॐ ह्रीं श्री महावीरजिनेन्द्राय क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यम् निर्वपामीति स्वाहा।

दीप

युगपद् विशद् सकलार्थ झलकें नित्य केवलज्ञान में।
त्रैलोक्यदीपक वीरजिन दीपक चढ़ाऊँ क्या तुम्हें ?
संतप्त-मानस शान्त हों जिनके गुणों के गान में।
वे वर्द्धमान महान जिन विचरें हमारे ध्यान में।।

ॐ ह्रीं श्री महावीरजिनेन्द्राय मोहांधकारविनाशनाय दीपम् निर्वपामीति स्वाहा।

धूप

जो कर्म-ईंधन दहन पावक पुंज पवन समान हैं।
जो हैं अमेय प्रमेय पूरण ज्ञेय-ज्ञाता-ज्ञान हैं।।
संतप्त-मानस शान्त हों जिनके गुणों के गान में।
वे वर्द्धमान महान जिन विचरें हमारे ध्यान में।।

ॐ ह्रीं श्री महावीरजिनेन्द्राय अष्टकर्मदहनाय धूपम् निर्वपामीति स्वाहा।

फल

सारा जगत फल भोगता नित पुण्य एवं पाप का।
सब त्याग समरस निरत जिनवर सफल जीवन आपका॥
संतप्त-मानस शान्त हों जिनके गुणों के गान में।
वे वर्द्धमान महान जिन विचरें हमारे ध्यान में॥

ॐ ह्रीं श्री महावीरजिनेन्द्राय मोक्षफलप्राप्तये फलम् निर्वपामीति स्वाहा।

अर्घ

इस अर्घ का क्या मूल्य है अनअर्घ पद के सामने।
उस परम-पद को पा लिया, हे पतितपावन आपने॥
संतप्त-मानस शान्त हों जिनके गुणों के गान में।
वे वर्द्धमान महान जिन विचरें हमारे ध्यान में॥

ॐ ह्रीं श्री महावीरजिनेन्द्राय अनर्घपदप्राप्तये अर्घम् निर्वपामीति स्वाहा।

पंचकल्याणक अर्घ

सित छटवीं आसाढ़, माँ त्रिशला के गर्भ में।
अंतिम गर्भावास, यही जान प्रणमूं प्रभो॥

ॐ ह्रीं आषाढ़शुक्लाषष्ठ्यां गर्भमंगलमंडिताय श्रीमहावीरजिनेन्द्राय अर्घम् नि०।

तेरस दिन सित चैत, अन्तिम जन्म लियो प्रभू।
नृप सिद्धार्थ निकेत, इन्द्र आय उत्सव कियो॥

ॐ ह्रीं चैत्रशुक्लात्रयोदशम्यां जन्ममंगलमंडिताय श्रीमहावीरजिनेंद्राय अर्घम् नि०।

दशवीं मंगसिर कृष्ण, वर्द्धमान दीक्षा धरी।
कर्म कालिमा नष्ट, करने आतमरथी बने॥

ॐ ह्रीं मार्गशीर्षकृष्णादशम्यां तपमंगलमंडिताय श्रीमहावीरजिनेन्द्राय अर्घम् नि०।

सित दशवीं बैसाख, पायो केवलज्ञान जिन।
अष्ट द्रव्यमय अर्घ, प्रभुपद पूजा करें हम॥

ॐ ह्रीं बैसाखशुक्लादशम्यां ज्ञानमंगलमंडिताय श्रीमहावीरजिनेन्द्राय अर्घम् नि०।

कार्तिक मावस श्याम, पायो प्रभु निर्वाण तुम।
पावा तीरथधाम, दीपावली मनांय हम॥

ॐ ह्रीं कार्तिककृष्णाअमावस्यां मोक्षमंगलमंडिताय श्रीमहावीरजिनेन्द्राय अर्घम् नि०।

जयमाला

यद्यपि युद्ध नहीं कियो, नाहिं रखे असि-तीर।
परम अहिंसक आचरण, तदपि बने महावीर ॥

हे मोह-महादल-दलन वीर, दुद्धरतप संयम धरण धीर।
तुम हो अनन्त आनन्दकन्द, तुम रहित सर्व जग दंद-फंद ॥
अघकरन करन-मन हरन हार, सुखकरन हरन भवदुख अपार।
सिद्धार्थ-तनय तन रहित देव, सुर-नर-किन्नर सब करत सेव ॥
मतिज्ञान रहित सन्मति जिनेश, तुम राग-द्वेष जीते अशेष।
शुभ-अशुभराग की आग त्याग, हो गये स्वयं तुम वीतराग ॥
षट् द्रव्य और उनके विशेष, तुम जानत हो प्रभुवर अशेष।
सर्वज्ञ-वीतरागी जिनेश, जो तुम को पहिचाने विशेष ॥
वे पहिचानें अपना स्वभाव, वे करें मोह-रिपु का अभाव।
वे प्रगट करें निज-पर विवेक, वे ध्यावें निज शुद्धात्म एक ॥
निज आतम में ही रहें लीन, चारित्रमोह को करें क्षीन।
उनका हो जावे क्षीण राग, वे भी हो जावें वीतराग ॥
जो हुए आज तक अरीहंत, सबने अपनाया यही पंथ।
उपदेश दिया इस ही प्रकार, हो सबको मेरा नमस्कार ॥
जो तुमको नहिं जाने जिनेश, वे पावें भव-भव भ्रमण क्लेश।
वे माँगें तुमसे धन-समाज, वैभव पुत्रादिक राज-काज ॥
जिनको तुम त्यागे तुच्छ जान, वे उन्हें मानते हैं महान।
उनमें ही निशदिन रहें लीन, वे पुण्य-पाप में ही प्रवीन ॥
प्रभु पुण्य-पाप से पार आप, बिन पहिचाने पावें संताप।
संतापहरण सुखकरण सार, शुद्धात्मस्वरूपी समयसार ॥
तुम समयसार हम समयसार, सम्पूर्ण आतमा समयसार।
जो पहिचानें अपना स्वरूप, वे हो जावें परमात्मरूप ॥
उनको ना कोई रहे चाह, वे अपना लेवें मोक्ष राह।
वे करें आतमा को प्रसिद्ध, वे अल्पकाल में होय सिद्ध ॥

ॐ ह्रीं श्रीमहावीरजिनेन्द्राय अनर्घपदप्राप्तये जयमालार्घम् निर्वपामीति स्वाहा।

भूतकाल प्रभु आपका, वह मेरा वर्तमान।
वर्तमान जो आपका, वह भविष्य मम जान ॥

पुष्पांजलि क्षिपेत्